नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 139 • वर्ष 12 अंक 12–वर्ष 13 अंक 1
(संयुक्तांक) जनवरी–फरवरी 2010 • तीन रुपये • 16+4 पृष्ठ

मनमोहन का बेशर्म झूठ: "आर्थिक सुधारों से ग़रीबी घटी है!"

प्रधानमन्त्री महोदय! आँकड़ों की बाज़ीगरी से ग़रीबी नहीं घटती!

देश को ग़रीबी और बेरोज़गारी से निजात सिर्फ़ मज़दूर क्रान्ति दिला सकती है, शासक वर्ग की लफ़्फ़ाज़ियाँ नहीं

सम्पादक मण्डल

27 दिसम्बर को भुवनेश्वर (उड़ीसा) में भारतीय आर्थिक संघ के 92वें सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए हमारे देश के अर्थशास्त्री प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने ऐसा दावा किया जिसे सुनकर देश का हर ग़रीब नागरिक दंग रह जाये। दुनिया के शीर्ष अर्थशास्त्रियों में गिने जाने वाले, लन्दन स्कूल ऑफ़ इकोनॉमिक्स में शिक्षण प्राप्त कर चुके और दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकोनॉमिक्स में शिक्षण दे चुके प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने घोषणा की कि 1991 में उनके द्वारा नयी आर्थिक नीतियों के श्रीगणेश के बाद देश में ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वालों की तादाद में कमी आयी है! उन्होंने कहा कि अगर हम आर्थिक सुधारों की रफ़्तार को घटायेंगे तो अर्थव्यवस्था उस गति से विकास नहीं कर पायेगी कि पर्याप्त रोज़गार पैदा हो सकें। यानी साफ़ है कि आगे नवउदारवादी नीतियों को और ज़ोर-शोर से लागू करने की पूरी योजना है। 1991 में लागू हुई नयी आर्थिक नीतियों का मूलमन्त्र था निजीकरण (यानी, सार्वजनिक क्षेत्र के उन उद्योगों को तेज़ी से औने-पौने दामों पर पूँजीपतियों को बेचना जिन्हें जनता के पैसे से खड़ा किया गया था और साथ ही स्वास्थ्य, शिक्षा, पेयजल, बिजली आदि जैसी बुनियादी सुविधाओं को भी निजी हाथों में सौंपकर उन्हें मुनाफ़ा कमाने के धन्धों में तब्दील कर देना) और मज़दूरों को श्रम क़ानूनों के रूप में प्राप्त उन थोड़े बहुत अधिकारों को भी छीन लेना जिन्हें देश में कहीं भी ढंग से लागू भी नहीं किया जाता। इन नयी आर्थिक नीतियों का मतलब था पूँजीपतियों के लिए पूरे आर्थिक और प्रशासनिक ढाँचे को उदार बनाना (उदारीकरण!) और मेहनतकश जनता के लिए रहे-सहे श्रम अधिकारों को छीनकर उसे बाज़ार की अन्धी शक्तियों के हवाले कर देना (कठोरीकरण!)। उदारीकरण और निजीकरण के दो दशकों ने मेहनतकश जनता पर जो कहर बरपा किया है उसके बारे में अब तक सरकारी एजेंसियाँ भी ऐसे सफ़ेद झूठ नहीं बोल रही थीं जो हमारे देश के प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने उड़ीसा में बोला है। अब यह एक विडम्बना ही है कि जिस राज्य में ग़रीबी का प्रतीकस्थान बन चुका कालाहाण्डी स्थित है, वहाँ भी मनमोहन सिंह यह झूठ बोलने में हिचकिचाये नहीं। इसके बावजूद हमारे देश का खाता-पीता पढ़ा-लिखा शहरी मध्यवर्ग इस "सज्जन" प्रधानमन्त्री की सादगी और भलेपन पर लहालोट होता रहता है!

यह कितना बड़ा झूठ है इसे इस बात से ही समझा जा सकता है कि अभी कुछ समय पहले बनी अर्जुन सेनगुप्ता समिति रिपोर्ट ने बताया था कि इस देश में 77 फ़ीसदी आबादी यानी करीब 84 करोड़ लोग, 20 रुपया या उससे कम की प्रतिदिन आय पर गुज़र कर रहे हैं (इसमें से 27 करोड़ तो 11 रुपये से कुछ अधिक की प्रतिदिन आय पर मुश्किल से जी पा रहे हैं। एक स्वास्थ्य संस्थान की रिपोर्ट के अनुसार 46 प्रतिशत भारतीय बच्चे कुपोषण के शिकार हैं और लगभग 55 प्रतिशत महिलाओं का वज़न अस्वस्थ होने की हद तक कम है। देश के 18 करोड़ लोग बेघर हैं और 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हैं। इन सब आँकड़ों के बावजूद अगर कोई हमें बता रहा है कि ग़रीबी घट रही है तो सामान्य बोध से समझा जा सकता है कि हमें मूर्ख बनाया जा रहा है। लेकिन इस बात को ठोस तौर पर आँकड़ों के साथ समझ लेने की भी ज़रूरत है। आम मेहनतकश आबादी को मूर्ख बनाने के लिए व्यवस्था हमेशा ही आँकड़ों का खेल खेलती है और लोगों को यह यक़ीन दिलाने की कोशिश करती है कि ग़रीबी और भुखमरी घट रही है, तरक़्क़ी का फ़ल सबको मिल रहा है, ऊपर के पूँजीपतियों की तरक्की होगी, तभी देश के मेहनतकश वर्ग का जीवन भी सुधरेगा। लेकिन सच्चाइयाँ हमेशा ही आँकड़ों की बाज़ीगरी को बेअसर कर देती हैं। आइये, ज़रा आँकड़ों की इस बाज़ीगरी की असलियत को समझें।

ग़रीबी कम होने के प्रधानमन्त्री के दावों का आधार है हाल के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़े। इस सर्वेक्षण के मुताबिक ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोग अब महज़ 28.6 प्रतिशत रह गये हैं। यह पहली बार नहीं है जब राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के आँकड़ों के ज़रिये देश के शासक वर्ग ने यह यक़ीन दिलाने की कोशिश की है कि ग़रीबी

(पेज 10 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

दिल्ली के असंगठित मज़दूरों की 16 दिन की लम्बी हड़ताल – पेज 3
मेहनतकश साथियो! निर्णायक बनो! अपना ऐतिहासिक मिशन पूरा करने के लिए आगे बढ़ो! – पेज 8
ज्योति बसु और संसदीय वामपन्थी राजनीति की आधी सदी – पेज 12
ढण्डारी काण्ड : 42 निर्दोष मज़दूरों को बिना शर्त रिहा करवाया – पेज 4
पंजाब की फ़िज़ा में ज़हर घोल रही हैं साम्प्रदायिक शक्तियाँ – पेज 11

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के ख़तरों के बारे में

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

"हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी पन्थनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :
सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,** विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की **स्वतन्त्रता,** प्रतिष्ठा और अवसर की **समता** प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली **बंधुता** बढ़ाने के लिए दृढसंकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"**

इन्हीं लच्छेदार शब्दों की प्रस्तावना के साथ दुनिया के सबसे बड़े जनतन्त्र के संविधान की शुरुआत होती है जो (90,000 शब्द) दुनिया का सबसे वृहद संविधान है। इस 26 जनवरी को भारतीय गणतन्त्र और भारतीय संविधान की साठवीं सालगिरह धूमधाम से मनायी गयी। जश्न और जलसे हुए। राजधानी दिल्ली में तगड़े सुरक्षा-बन्दोबस्त के साथ गणतन्त्र दिवस परेड हुई। वहाँ महामहिम गण और अतिविशिष्ट जन ही मौजूद थे। एक तो जनता में अब मेले-ठेले वाला पुराना उत्साह रहा भी नहीं, दूसरे तगड़े सुरक्षा बन्दोबस्त उसे राजपथ तक फटकने भी नहीं देते।

भारतीय गणराज्य और संविधान के साठ वर्ष

सवाल यह भी उठाया जा सकता है कि गणतन्त्र दिवस का मुख्य आकर्षण सैन्य शक्ति का प्रदर्शन ही क्यों हुआ करता है? क्या लोकतन्त्र की मज़बूती सेना की ताकत से तय होती है? वैसे इस प्रतीकात्मकता से जाने-अनजाने एक सच्चाई ही प्रदर्शित होती है। हर बुर्जुआ जनवाद (लोकतन्त्र) वास्तव में बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकत्व होता है, वह बहुमत पर शोषक अल्पमत का शासन होता है जो थोड़े कामचलाऊ और थोड़े दिखावटी जनवाद के बावजूद मुख्यत: बल पर आधारित होता है। सामरिक शक्ति उसकी आधारभूत ताक़त होती है। गणतन्त्र दिवस के अवसर पर सामरिक शक्ति का प्रदर्शन एक ओर लोगों में अन्धराष्ट्रवादी भावोद्रेक पैदा करता है, दूसरी ओर यह भी संदेश देता है कि इतनी विराट सैन्य-शक्ति से लैस सत्ता के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने की जुर्रत कोई कत्तई न करे।

बहरहाल, इन ऊपरी, चलताऊ बातों से हटकर ऐसे मौक़े पर यह बुनियादी सवाल उठाये जाने की ज़रूरत है कि हम जिस सम्प्रभु, समाजवादी जनवादी (लोकतान्त्रिक) गणराज्य में जी रहे हैं, वह वास्तव में कितना सम्प्रभु है, कितना

(पेज 6 पर जारी)

आपस की बात

सूचना अधिकार क़ानून बना सरकार के गले की फाँस

भारत सरकार ने सूचना अधिकार क़ानून-2005 बनाकर व्यवस्था में पारदर्शिता लाने का एक बड़ा ढोंग रचा था। इसके तहत कोई भी भारतीय नागरिक किसी भी सरकारी अधिकारी से उसके विभाग की कोई "सूचना" जनहित में ले सकता है। जब यह क़ानून बना तो कई केन्द्रीय मन्त्रियों ने बयानों के बड़े-बड़े गोले दाग़े कि देखो हम ढाँचे को कितना पारदर्शी बना रहे हैं, लेकिन इस पारदर्शिता से मौजूदा व्यवस्था की गन्दगी और भी अधिक जगजाहिर हो गयी है।

निठारी काण्ड के बाद किसी संगठन ने सूचना अधिकार क़ानून-2005 का इस्तेमाल कर देशभर में ग़ायब हो रहे बच्चों के बारे में रिपोर्ट जारी कर दी, किसी अन्य संगठन ने बड़ी-बड़ी कम्पनियों द्वारा विशेष आर्थिक क्षेत्र के अधीन उजाड़े जा रहे किसानों के आँकड़े पेश कर दिये। ट्रेड यूनियनों को कारख़ानों के बारे में रिपोर्टें घर बैठे मिलने लगीं। अब हुआ यह कि लोगों के सामने यह बात साफ़ होने लगी कि श्रम विभाग से लेकर अदालतों तक, पुलिस से लेकर संसद तक और अफ़सरों से लेकर बड़ी-बड़ी कम्पनियों तक सारे इस हमाम में नंगे हैं। यह व्यवस्था एक बड़ा-सा तालाब है जिसमें पत्थर फेंकने पर गन्दगी ही उपराती है। मामला तब भड़क उठा जब सुप्रीम कोर्ट के जजों से उनकी सम्पत्ति के बारे में सूचना माँग ली गयी।

इससे देश के बड़े-बड़े मन्त्रियों के पेट में भी दर्द होने लगा। अब सूचना अधिकार क़ानून हुक्मरानों के गले की हड्डी बन गया था। पिछली 14 अक्टूबर को दिल्ली में एक सरकारी मीटिंग में इस क़ानून में संशोधन का प्रस्ताव आया और अब सरकार बाक़ायदा इसमें संशोधन करने की राह पर चल पड़ी है। इस संशोधन के बाद किसी भी स्थानीय विभाग का अफ़सर (जिससे सूचना माँगी गई है) इस बात का फ़ैसला करेगा कि माँगी गयी सूचना देनी है या नहीं। अब हम लोग खुद ही यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि ये अफ़सर क्या फ़ैसला करेंगे। सरकार इस संशोधन पर गम्भीरता से विचार कर रही है, सम्भावना यही है कि अब इस क़ानून के पर कुतर दिये जायेंगे।

यह संशोधन हो या न हो, लेकिन आम भारतीय को समझ लेना चाहिए कि सरकारें समय-समय पर अपनी "प्रजा" के मनबहलाव के लिए इस तरह के झुनझुने थमाती रहती हैं और जब यह झुनझुना उसके ही कानों में बजने लगता है तो छीन लिया जाता है। ऐसे झुनझुने इसलिए दिखाये जाते हैं ताकि महँगाई, ग़रीबी, बेरोज़गारी से परेशान लोग व्यवस्था को ही बदलने की राह न चल पड़ें। सूचना अधिकार क़ानून अगर न हुआ तो कुछ और होगा। लेकिन उससे भी हिन्दोस्तान की तस्वीर बदलने वाली नहीं है।

– अजयपाल, लुधियाना

तीन नई महत्त्वपूर्ण बिगुल पुस्तिकाएँ

1.	**राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन**	अभिनव	15.00
2.	**फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?**	अभिनव	15.00
3.	**नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार**	आलोक रंजन	50.00

मँगाने के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

अपना ऐतिहासिक मिशन पूरा करने के लिए आगे बढ़ो!

बार फिर सिद्ध किया है कि ट्रेड यूनियन के आर्थिक संघर्षों से मज़दूर महज़ आत्मरक्षा कर सकता है और कुछ रियायतें हासिल कर सकता है। पूँजीवाद का नाश करके समाजवाद का निर्माण करने के लिए उसे राजनीतिक संघर्ष करते हुए राज्यसत्ता दख़ल की दिशा में आगे बढ़ना होगा और यह तभी हो सकता है जब सर्वहारा वर्ग की एक ऐसी क्रान्तिकारी पार्टी हो, जो सही कार्यक्रम और वर्ग लामबन्दी की सही समझ से लैस हो।

कुछ ऐसे भी बुद्धिजीवी थे जो चियापास (मेक्सिको) के किसान संघर्ष, विभिन्न जनान्दोलनों और छिटपुट स्वयंस्फूर्त संघर्षों को ही एकमात्र विकल्प के रूप में देखने लगे थे। इस "उत्तर-आधुनिक" स्वत:स्फूर्ततावाद और लोकरंजकतावाद का गुब्बारा भी अब पिचक चुका है। अभी भी कुछ ऐसे हैं जो वेनेज़ुएला या क्यूबा को समाजवाद के मॉडल के रूप में देखते हैं। पर इन मिथ्या आशाओं के ध्वस्त होने में अब ज़्यादा समय नहीं लगेगा।

गुज़रे दशक के आधुनिक इतिहास ने सार्वकालिक-सार्वभौमिक महत्त्व की इस शिक्षा को एक बार फिर पुष्ट किया है कि सर्वहारा वर्ग ही एकमात्र वह वर्ग है, जिसके नेतृत्व में अन्य मेहनतकश जनसमुदाय लामबन्द होकर पूँजीवाद के युग को अवसान तक लेकर जायेंगे। सर्वहारा वर्ग का यह ऐतिहासिक मिशन है। वही पूँजीवाद की क़ब्र खोदने वाला वर्ग है। लेकिन जबतक किसी देश में मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी विज्ञान और क्रान्ति के कार्यक्रम की सही समझ के आधार पर एक क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी नहीं बनेगी, तबतक सारे उग्र संघर्ष कालान्तर में दिशाहीन होकर भटकते रहेंगे और पूँजीवाद अपनी जड़ता की ताक़त और दमनतन्त्र के सहारे टिका रहेगा।

वर्तमान समय ने बदली हुई सच्चाइयों की तस्वीर एकदम साफ़ कर दी है और स्पष्ट कर दिया है कि इक्कीसवीं सदी की सर्वहारा क्रान्तियाँ, बीसवीं सदी की सर्वहारा क्रान्तियों से बहुत कुछ सीखते हुए भी उनका अन्धानुकरण नहीं करेंगी। जैसे, भारत जैसे अधिकांश उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में सामन्तवाद विरोधी कार्यभार अब मुख्यत: समाप्त हो चुके हैं। अत: इन देशों में साम्राज्यवाद विरोधी, पूँजीवाद-विरोधी नये प्रकार की सर्वहारा क्रान्ति की स्थितियाँ परिपक्व हो चुकी हैं। यही नहीं, पूँजीवाद की कार्यप्रणाली के बदलावों के चलते भी भावी क्रान्तियों की रणनीति एवं आम रणकौशल में कुछ बदलाव की स्थितियाँ पैदा हुई हैं। समस्या यह है कि वैचारिक तौर पर कमज़ोर, बिखरी हुई क्रान्तिकारी ताक़तों में विगत क्रान्तियों के अन्धानुकरण की कठमुल्लावादी प्रवृत्ति गहराई तक जड़ जमाये हुए है। यह एक बहुत बड़ी गाँठ है, जिसे खोलना ही होगा।

●

कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक ने एक बार फिर स्पष्ट संकेत दिये हैं कि यह शताब्दी निर्णायक सर्वहारा क्रान्तियों की सदी होगी। आने वाले दिन तूफ़ानी उथल-पुथल भरे दिन होंगे। साम्राज्यवादी दुनिया को कम्युनिज़्म का भूत फिर से सताने लगा है। बुर्जुआ राज्यसत्ताएँ अपने दमनतन्त्र को चाक-चौबन्द करने लगी हैं।

लेकिन भविष्य में निर्णायक सर्वहारा क्रान्तियों के होने और उनकी विजय के बारे में एकदम नियतिवादी तरीके से बात नहीं कही जा सकती। यदि सर्वहारा क्रान्ति की नेतृत्वकारी ताक़तें अतीत की क्रान्तियों, वर्तमान के स्वत:स्फूर्त संघर्षों और सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक उपादानों का सही-सटीक अध्ययन-विश्लेषण करके नतीजे नहीं निकालेंगी तो लाख संकटों के बावजूद पूँजीवादी व्यवस्था अपनेआप क़ब्र में जाकर नहीं लेट जायेगी। मेहनतकश जनसमुदाय को क्रान्ति न कर पाने की सज़ा बर्बरतम फ़ासिस्ट तानाशाही के रूप में मिलेगी और कालान्तर में पूँजीवाद मानव सभयता को ही विनाश के मुक़ाम तक पहुँचायेगा। विकल्प मात्र दो ही हैं – समाजवाद या विनाश! अब मज़दूर वर्ग को तय करना है कि वह कौन-सा विकल्प चुने और अपने बलिष्ठ हाथों से इतिहास को मानव-मुक्ति की दिशा में मोड़े, या निष्क्रिय-अकर्मण्य बैठा विनाश की प्रतीक्षा करे।

●

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

अब इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकायेँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं। वेबसाइट का पता :

http://sites.google.com/site/bigulakhbar

'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं। ब्लॉग का पता :

http://bigulakhbar.blogspot.com

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**
फ़ोन : 0522-2335237

सम्पादकीय उपकार्यालय : **जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ**

दिल्ली सम्पर्क : **बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94**

ईमेल : **bigul@rediffmail.com**

मूल्य : एक प्रति-रु. 3/- वार्षिक-रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार खुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'बिगुल' मज़दूरों का अपना अखबार है। यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए बिगुल कार्यालय को लिखिये।

बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है:

● डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 ● जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे) ● जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001 ● जनचेतना सचल स्टाल, चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)

दिल्ली के असंगठित मज़दूरों का अभूतपूर्व संघर्ष

बादाम मज़दूर यूनियन के नेतृत्व में दिल्ली के बादाम मज़दूरों की 16 दिन लम्बी हड़ताल

वैश्विक बाज़ार में बादाम आपूर्ति लड़खड़ाई, मज़दूरों की आंशिक विजय

16 दिसम्बर से 31 दिसम्बर तक का समय दिल्ली के असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के लिए एक यादगार दौर था। इन 16 दिनों के दौरान उत्तर-पूर्वी दिल्ली के करावलनगर क्षेत्र के करीब 10 हज़ार मज़दूर परिवारों ने एक ऐतिहासिक संघर्ष लड़ा। यह संघर्ष न सिर्फ़ करावलनगर क्षेत्र के लिए एक अभूतपूर्व घटना थी, बल्कि 1988 की 7 दिनों की हड़ताल की ही तरह पूरे दिल्ली के असंगठित क्षेत्र के लिए एक अभूतपूर्व घटना थी। कई मायनों में यह 1988 की असंगठित मज़दूरों की 7 दिनों की हड़ताल से भी बड़ी हड़ताल थी। इस हड़ताल की शुरुआत के बाद ही यह मुद्दा तमाम अख़बारों और वेबसाइटों पर छा गया। इसका कारण यह था कि यह एक ऐसे उद्योग में हुई हड़ताल थी, जो करीबी से वैश्विक मण्डी से जुड़ा हुआ है। हमने पहले भी 'बिगुल' के अंकों में दिल्ली के बादाम संसाधन उद्योग के बारे में लिखा है। करावलनगर व दिल्ली के कुछ अन्य इलाक़ों में स्थित यह उद्योग छोटे-छोटे ठेकेदारों और मालिकों द्वारा चलाया जाता है जिन्होंने इन इलाक़ों में अपने गोदाम खोल रखे हैं। ये गोदाम वास्तव में छोटे कारख़ाने के समान हैं। यहाँ पर वे 40 से लेकर 200 तक की संख्या में मज़दूरों से काम लेते हैं। दिल्ली के कुल बादाम गोदामों का 80 प्रतिशत करावलनगर क्षेत्र में स्थित है। ये ठेकेदार पूरी तरह गैर-क़ानूनी हैं। इनके पास न तो कोई लाईसेंस है और न ही सरकार द्वारा प्राप्त किसी भी किस्म की मान्यता। दिल्ली के श्रम विभाग की नाक के नीचे कई करोड़ रुपये की कीमत का एक अवैध कारोबार पिछले लगभग दो दशकों से जारी है। इस उद्योग में काम करने वाले मज़दूरों को बेहद कम मज़दूरी मिलती है और उनकी काम करने की स्थितियाँ अमानवीय हैं। करावलनगर क्षेत्र में ऐसे करीब 10 हज़ार मज़दूर परिवार हैं जो बादाम संसाधन के काम में लगे हैं। ये टुटपूँजिया ठेकेदार/मालिक असंसाधित बादाम खारी बावली के बड़े मालिकों से ले आते हैं। खारी बावली के ये बड़े मालिक अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया से असंसाधित बादाम आयात करते हैं और उनका संसाधन यहाँ करवाते हैं। वैश्विक असेम्बली लाइन का एक जीता-जागता उदाहरण हमें बादाम संसाधन उद्योग में मिलता है। खारी बावली के कई बड़े मालिकों के अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में अपने फार्म हैं जिनपर वे बादाम की खेती करवाते हैं। लेकिन संसाधन के लिए भारत को चुना गया है क्योंकि यहाँ जितना सस्ता श्रम और भ्रष्ट श्रम विभाग पूरी दुनिया में इन मालिकों को कहीं नहीं मिल सकता है।

बादाम मज़दूरों के संघर्ष का इतिहास

बादाम मज़दूर अपने अधिकारों के लिए पिछले 2 वर्षों से लड़ते रहे हैं। उसके पहले भी कुछ स्वत:स्फूर्त संघर्ष हुए थे लेकिन वे किसी मुकाम तक नहीं पहुँच पाये थे। इस इलाक़े में सी.पी.आई. (एम.एल.) लिबरेशन की ट्रेड यूनियन एक्टू का कुछ प्रभाव मौजूद था। लेकिन पिछले कई वर्षों से मौजूदगी के बावजूद एक्टू बादाम मज़दूरों का कोई बड़ा संघर्ष संगठित नहीं कर पायी थी। उल्टे होता यह था कि एक्टू का स्थानीय नेता मालिकों के साथ मिलकर कमीशनखोरी और दलाली का काम ज़्यादा करता था, और संघर्षों में मज़दूरों की अगुवाई कम। जो एकाध संघर्ष लड़े भी गये वे असफल रहे थे और आर्थिक मुद्दों पर संघर्ष करने के अतिरिक्त, एक्टू का स्थानीय नेता मज़दूरों में न तो कोई राजनीतिक प्रचार करता था और न ही उनके बीच राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण का कोई काम करता था। जिस प्रकार एक्टू अन्य जगहों पर भी जुझारू अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद को लागू कर रही है, उसी प्रकार इस इलाक़े में भी वह अधिक से अधिक यही कर सकती थी।

पिछले वर्ष बादाम मज़दूरों के एक संघर्ष की शुरुआत हुई जिसका करावल नगर इलाक़े में लम्बे समय से सक्रिय 'नौजवान भारत सभा' ने समर्थन किया। इस संघर्ष के दौरान ही कुछ युवा राजनीतिक कार्यकर्ताओं का यह प्रस्ताव आया कि बादाम मज़दूरों की अपनी यूनियन होनी चाहिए। इस पर एक्टू की आपत्ति होने के बावजूद बादाम मज़दूरों ने अपनी अलग यूनियन 'बादाम मज़दूर यूनियन' का गठन किया। पिछले वर्ष के ही अगस्त माह में मज़दूरों ने एक हड़ताल शुरू की लेकिन एक्टू के स्थानीय नेता ने शुरुआत में हड़ताल में शामिल होने का नाटक किया और फिर एक बसपा के स्थानीय गुण्डे धर्मेन्द्र भइया के साथ मिलकर मालिकों से हाथ मिला लिया और मज़दूरों से गद्दारी की। इसके बाद से ही मज़दूरों के सामने एक्टू के स्थानीय नेताओं की छवि धन्धेबाज़ ट्रेडयूनियनबाज़ की बनने लगी और वे एक्टू से निर्णायक रूप से अलग हो गये। पिछले एक वर्ष में 'बादाम मज़दूर यूनियन' विभिन्न संघर्षों के ज़रिये मज़बूत होती गयी है और 16 दिसम्बर को 'बादाम मज़दूर यूनियन' ने बादाम मज़दूरों की ऐतिहासिक हड़ताल को अंजाम दिया जो दिल्ली के मज़दूर आन्दोलन के इतिहास की एक परिघटना है।

हड़ताल के दौरान बादाम मज़दूरों की रैली

हड़ताल का घटनाक्रम

तैयारी

करावलनगर के बादाम मज़दूर किसी एक कारख़ाने में काम नहीं करते। ये मज़दूर पूरी तरह से एक अनौपचारिक उद्योग में काम करते हैं। मज़दूर के तौर पर उनकी कोई क़ानूनी पहचान नहीं है। उनके पास कोई पहचान पत्र, वेतन कार्ड, मज़दूरी कार्ड, या ऐसा कोई भी दस्तावेज़ नहीं है जिससे कि वे अपनी श्रमिक पहचान का दावा कर सकें। ये मज़दूर करीब 60 छोटे-बड़े गोदामों में काम करते हैं या अपने घर पर बादाम की बोरियाँ लाकर बादाम संसाधन का काम करते हैं। इनके काम करने का कोई निश्चित समय नहीं होता और ये मज़दूर पूरी तरह असंगठित थे। इन्हें संगठित करना अपने आप में एक बहुत बड़ी चुनौती थी। पिछले वर्ष बादाम मज़दूर यूनियन के गठन के बाद एक वर्ष तक यूनियन ने इन मज़दूरों के बीच अपनी सघन गतिविधियाँ चलायीं। इन मज़दूरों को इनके काम की जगह पर संगठित करना तो दूर उनसे काम की जगह पर सम्पर्क करना भी सम्भव नहीं था। इन्हें सिर्फ़ इनकी रिहायश की जगह पर ही पकड़ा जा सकता था। नतीजतन, बादाम मज़दूर यूनियन ने करावलनगर के प्रकाश विहार और भगतसिंह कॉलोनी के पूरे इलाक़े में घर-घर प्रचार, गली मीटिंगों, सांस्कृतिक जुटानों और पर्चा वितरण की सघन कार्रवाइयाँ चलायीं। प्रकाश विहार, भगतसिंह कॉलोनी ही वे इलाक़े हैं जहाँ करीब 10 हज़ार मज़दूर परिवार रहते हैं। ये मज़दूर छोटे-छोटे लॉजों या कोठरियों में रहते हैं। इन कार्रवाइयों के ज़रिये 'बादाम मज़दूर यूनियन' एक वर्ष में एक-एक मज़दूर तक पहुँची। इस बीच मालिकों द्वारा मज़दूरों के उत्पीड़न और कार्यस्थल पर दुर्घटनाओं की कुछ वारदातें हुईं जिस पर यूनियन ने आन्दोलन चलाये। इन कार्रवाइयों के नतीजे के तौर हज़ारों बादाम मज़दूरों में बादाम मज़दूर यूनियन एक स्वीकार्य नेतृत्व बन चुकी है।

पिछले 3-4 महीनों के दौरान यूनियन में इस बात पर चर्चा चल रही थी कि बढ़ती महँगाई के चलते मौजूदा मज़दूरी पर गुज़ारा सम्भव नहीं है। इस आन्दोलन के पहले तक बादाम मज़दूरों को एक बोरी बादाम के संसाधन पर मात्र 50 रुपये मिलते थे। इसके अतिरिक्त, बादाम के छिलके को, जो कि संसाधन के परिणामस्वरूप निकलता है, मालिक मज़दूरों को 20 रुपये प्रति बोरी की दर से बेचते थे। बादाम के छिलके का इस्तेमाल मज़दूर ईंधन के रूप में करते हैं। नतीजतन, मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी काफ़ी कम हो जाती थी। इसलिए यूनियन ने गली मीटिंगों द्वारा बड़े पैमाने पर मज़दूरों की राय ली और यह तय किया कि मज़दूरी को बढ़ाने के लिए बड़े पैमाने पर एक हड़ताल संगठित की जाये। स्पष्ट था कि जब अक्टूबर में यह निर्णय लिया गया तब बादाम उद्योग की तेज़ी का दौर नहीं था। दशहरा और दीपावली बीत चुके थे। अगला तेज़ी का दौर नये साल के ठीक पहले शुरू होना था। इसीलिए यह निर्णय लिया गया कि दिसम्बर मध्य के आस-पास हड़ताल की शुरुआत की जायेगी। उसके पहले बड़े पैमाने पर गली मीटिंगें करके एक-एक मज़दूर परिवार तक यह बात पहुँचानी होगी और मज़दूर स्वयंसेवकों के दस्ते तैयार करने होंगे जो हड़ताल की केन्द्रीय संगठनकर्ता टीम होगी। महज़ यूनियन नेतृत्व 8 किलोमीटर की परिधि में फैली मज़दूर आबादी तक हरेक बात और सूचना नहीं पहुँचा सकती। इसलिए संघर्ष के संगठन का काम यूनियन नेतृत्व अकेले नहीं कर सकता, बल्कि मज़दूर संगठनकर्ताओं की एक कोर टीम को मिलकर यह ज़िम्मेदारी उठानी होगी।

इस निर्णय के बाद से योजनाबद्ध गली मीटिंगों का सिलसिला अक्टूबर माह के पहले सप्ताह से शुरू हुआ। नवम्बर मध्य तक करीब तीन दर्जन गली मीटिंगें की जा चुकी थीं। इस दौरान लगभग 60 मज़दूरों ने स्वयंसेवक के तौर पर बा.म.यू. में पंजीकरण कराया। इसके बाद नवम्बर मध्य में हड़ताली स्वयंसेवक दस्ते की पहली बैठक बुलायी गयी जिसमें तब तक की तैयारियों का समाहार किया गया और आगे की योजना बनायी गयी। अब तक मालिकों तक यूनियन की गतिविधियों की सूचना पहुँच चुकी थी और मालिक अपने दलालों के ज़रिये, जिसमें एक्टू का स्थानीय नेता भी शामिल था, यह अफवाहें फैलाने लगे कि हड़ताल शुरू हो गयी है। इसका कारण यह था कि अगर उस समय मज़दूर सुनी-सुनायी बातों पर हड़ताल शुरू कर देते तो मालिकों को कोई नुकसान नहीं होता क्योंकि अभी उनपर बाज़ार का कोई दबाव नहीं था। ऐसे में हड़ताल करते हुए मज़दूर थक जाते और उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। लेकिन यूनियन का हड़ताली स्वयंसेवक दस्ता क़दम-क़दम पर इन अफ़वाहों का जवाब दे रहा था और मज़दूरों के दिमाग़ में यह बात बैठ चुकी थी कि जब तक बा.म.यू. के नेतृत्व से सीधे तौर पर हड़ताल शुरू करने की घोषणा की सूचना नहीं मिलती तब तक हड़ताल शुरू नहीं करनी है। नवम्बर माह के अन्त में स्वयंसेवक दस्ते की दूसरी बैठक हुई और यह तय किया गया कि अब धीरे-धीरे काम ज़ोर पकड़ रहा है और दिसम्बर के दूसरे सप्ताह के अन्त तक हड़ताल शुरू करने की स्थिति पैदा हो सकती है। दिसम्बर के पहले सप्ताह के अन्त में आखिरी स्वयंसेवक बैठक हुई और हड़ताल की तिथि 15 दिसम्बर तय की गयी।

शुरुआत

15 दिसम्बर की शाम को प्रकाश विहार में एक विशाल जनसभा करके यूनियन नेतृत्व ने अगले दिन सुबह से हड़ताल की घोषणा की। 16 दिसम्बर की सुबह से हड़ताल शुरू हो गयी। मज़दूर कार्यकर्ताओं ने सारे ठेकेदारों के पास अपना माँगपत्रक पहुँचाया। इस माँगपत्रक में माँग की गयी थी कि प्रति बोरा मज़दूरी को 50 रुपये से बढ़ाकर 80 रुपये किया जाय। मज़दूरों को बादाम का छिलका निशुल्क दिया जाय या फिर हफ़्ते में एक बोरा निशुल्क छिलके का कोटा तय किया जाय। तीसरी माँग थी कि देय मज़दूरी का भुगतान हर माह के पहले सप्ताह में हो जाना चाहिए। चौथी माँग थी कि मज़दूरों के साथ गोदाम के भीतर बदसलूकी बन्द होनी चाहिए। और आख़िरी प्रमुख माँग थी कि मज़दूरों को किसी न किसी प्रकार का पहचान पत्र मिलना चाहिए। हड़ताल शुरू होने के बाद मज़दूरों के दस्ते प्रचार करते हुए पूरे इलाक़े में घूमने लगे। ग़ौरतलब है कि बादाम संसाधन का काम मुख्य तौर पर महिला मज़दूर करती हैं। महिला मज़दूरों के हड़ताली दस्ते घर-घर जाकर मज़दूरों को हड़ताल में शामिल करने लगे और गोदामों में जो मुट्ठीभर मज़दूर जा रहे थे, उन्हें बाहर निकालने लगे। 17 दिसम्बर को भी यह प्रक्रिया जारी थी, लेकिन इसी दौरान एक महत्वपूर्ण घटना घट गयी। सुबह के समय जब यूनियन नेतृत्व के कुछ सदस्यों के साथ महिला मज़दूर हड़ताल को विस्तारित करने की मुहिम में लगी हुई थीं, उसी समय एक्टू के स्थानीय नेता

(पेज 12 पर जारी)

लुधियाना के मेहनतकशों के एकजुट संघर्ष की बड़ी जीत

ढंडारी काण्ड : 42 निर्दोष मज़दूरों को बिना शर्त रिहा करवाया

लुधियाना के ढण्डारी इलाक़े में विभिन्न मज़दूर संगठनों की एकजुटता रैली

पिछले वर्ष दिसम्बर के पहले सप्ताह में घटित ढण्डारी काण्ड (देखें बिगुल के पिछले अंक में छपी रिपोर्ट) के पीड़ितों को इंसाफ़ दिलाने के लिए लुधियाना के अनेक मज़दूर, किसान, सरकारी कर्मचारी और नौजवान संगठनों के नेतृत्व में हुए एकजुट संघर्ष को बड़ी सफलता मिली है। 4-5 दिसम्बर को डी.सी. लुधियाना के कार्यालय के सामने धरना-प्रदर्शन से लेकर 17 जनवरी को लुधियाना के ढण्डारी खुर्द में 22 इंसाफ़पसंद संगठनों के नेतृत्व में हज़ारों मज़दूरों सहित किसानों, सरकारी कर्मचारियों और नौजवानों द्वारा एक ज़बरदस्त एकजुटता रैली और प्रदर्शन ने सरकार को मज़बूर कर दिया कि वह झूठे केसों में जेल में बंद किये गये ढण्डारी के 42 निर्दोष मज़दूरों को रिहा करे। इस प्रदर्शन के दो दिन बाद ही अधिकांश मज़दूरों को बिना शर्त रिहा कर दिया गया। 17 जनवरी की विशाल रैली ने लुधियाना ख़ासकर फोकल प्वाइंट क्षेत्र के मज़दूरों में फैले पुलिस और गुण्डों के डर को भी तोड़ने में अहम भूमिका अदा की है।

इस ज़बरदस्त रैली और प्रदर्शन के सफल आयोजन ने जहाँ मज़दूरों में फैले पुलिस और गुण्डों के डर के माहौल को तोड़कर पहली जीत दर्ज करवाई थी वहीं दूसरी जीत तब हासिल हुई जब रैली को अभी दो दिन भी नहीं बीते थे कि 19 जनवरी की रात को 39 मज़दूर को जेल से बिना शर्त रिहा कर दिया गया। रिपोर्ट लिखे जाने तक 3 नाबालिग बच्चों को कुछ कागज़ी कार्रवाई के चलते रिहाई नहीं मिल सकी थी लेकिन उनकी रिहाई का रास्ता साफ़ हो चुका है। कारखाना मज़दूर यूनियन लुधियाना तथा अन्य संगठन बच्चों की रिहाई की कार्रवाई जल्द पूरी करवाने के लिए प्रशासन पर दबाव बना रहे हैं। पंजाब सरकार ने पंजाब प्रवासी कल्याण बोर्ड के ज़रिये पीड़ितों के लिए 17 लाख रुपये मुआवज़े के तौर पर भी जारी किये हैं। संगठनों के साझा मंच ने इस मुआवज़े को नाममात्र करार देते हुए पीड़ितों को उचित मुआवज़ा देने की माँग की है। यह जीत लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन की बहुत बड़ी जीत है। इस जीत ने लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन में नया जोश भरने का काम किया है।

17 जनवरी की एकजुटता रैली के आयोजन को असफल करने के लिए पुलिस ने बहुत प्रयास किये थे। रैली स्थल बदलने के लिए आयोजकों पर बहुत दबाव डाला गया। ढण्डारी वही इलाक़ा है जहाँ दिसम्बर में लुधियाना के मज़दूरों ने बाईकर्स गैंग द्वारा रोजाना मारपीट और छीना-झपटी के विरोध में प्रदर्शन किया था। तीन दिसम्बर की रात को अपने एक साथी के साथ हुई वारदात की रिपोर्ट लिखवाने जब कुछ मज़दूर पुलिस चौकी गये तो उन्हें बेइज़्ज़त करके भगा दिया गया। इसके विरोध में जब लगभग 500 मज़दूरों ने जी.टी. रोड जाम कर दिया तब भी उनकी बात सुनने के बजाय पुलिस ने उन पर बर्बरतापूर्वक लाठियाँ बरसायीं। पुलिस ने ढण्डारी फ़्लाईओवर से सटे मज़दूरों के क्वार्टरों के दरवाजे तोड़कर बर्बरतापूर्वक पिटाई करते हुए 42 बेकसूर मज़दूरों को गिरफ़्तार कर लिया। इनमें 3 नाबालिग बच्चे भी थे। इसके ख़िलाफ़ 4 दिसम्बर को लगभग दस हज़ार मज़दूरों का सैलाब सड़कों पर उतरा। प्रदर्शन कर रहे मज़दूरों पर पुलिस ने सीधी गोलियाँ चलायीं (पूँजीवादी मीडिया ने इस तथ्य को बेशर्मी से छुपा लिया था)। लाठी-गोली से खदेड़े गये इन मज़दूरों पर पुलिस ने तलवारों, डण्डों, क्रिकेट के बल्लों, हॉकियों से लैस गुण्डों द्वारा हमला करवाया। कई दिन तक इस इलाक़े में कर्फ़्यू रहा। लेकिन यह कर्फ़्यू सिर्फ मज़दूरों के लिए था। पुलिस का समर्थन प्राप्त गुण्डों ने इस कर्फ़्यू के दौरान मज़दूरों के सामान सहित सैकड़ों क्वार्टरों और दुकानों को आग लगा दी। कई मज़दूरों को जान से मार डाला गया। अनेक स्त्रियों को बलात्कार का शिकार बनाया गया।

लुधियाना के इसी क्षेत्र, ढण्डारी, में एकजुटता रैली और प्रदर्शन के आयोजन के ऐलान से लुधियाना का पुलिस- प्रशासन बौखलाया हुआ था। पूँजीवादी राजनीतिक पार्टियाँ और संगठन भी नहीं चाहते थे कि वामपंथी धारा से जुड़े जनसंगठनों द्वारा इस इलाक़े में रैली की जाये। लेकिन जब आयोजक न माने तो ढण्डारी के लोगों में रैली के बारे में डर फैलाने की कोशिश की गई कि रैली से फिर एक बड़ा हंगामा होगा इसलिए वे इस रैली में न जायें। 17 जनवरी को रैली वाले दिन फोकल प्वायंट एरिया पुलिस छावनी में बदल दिया गया। रैली स्थल, ढण्डारी खुर्द की ईश्वर कालोनी की सब्ज़ी मण्डी में पुलिस की गाड़ियाँ ही गाड़ियाँ ही नज़र आयीं। यह लोगों में दहशत फैलाने के लिए था ताकि लोग रैली के लिए वहाँ इकट्ठे ही न हों। लोगों को रैली में पहुँचने से रोकने के लिए जगह-जगह नाके लगाये गये। जी.टी. रोड से रेलवे लाइन पार करके रैली स्थल तक पहुँचने से रोकने के लिए पुलिस ने सारे इन्तज़ाम कर रखे थे। लेकिन रैली को असफल करने की पुलिस की सारी कोशिशें धरी की धरी रह गईं।

संगठनों ने पहले ही योजना बना ली थी कि कोई भी ढण्डारी में अकेला पहुँचे ही नहीं। दोपहर 12 बजे शेरपुर लेबर मण्डी (आरती स्टील के पास) चौक से 500-600 लोगों ने ढण्डारी की ईश्वर कालोनी की सब्ज़ी मण्डी की तरफ पैदल मार्च शुरू कर दिया। पुलिस यह तो चाहती थी कि रैली न हो लेकिन वो फिर से दिसम्बर जैसा टकराव नहीं चाहती थी। लोगों के विशाल जुलूस को रोकने की उसकी हिम्मत नहीं थी। "जीना है तो मरना सीखो, क़दम क़दम पर लड़ना सीखो", "ढण्डारी काण्ड में गिरफ़्तार किये गये 42 मज़दूरों को रिहा करो", "ढण्डारी काण्ड के पीड़ितों को इंसाफ़ दो", "दोषी पुलिस अधिकारियों और गुण्डों को सज़ा दो", "पंजाबी-प्रवासी के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो", "मज़दूर, किसान, मुलाजिम, नौजवान एकता ज़िन्दाबाद", आदि गगनभेदी नारे बुलन्द करता हुआ यह जुलूस ढण्डारी खुर्द की ईश्वर कालोनी के सब्ज़ी मण्डी मैदान तक पहुँचा।

पहले तो ढण्डारी के लोग रैली में शामिल होने से डरे लेकिन धीरे-धीरे वे रैली में आकर शामिल होते गये। 1500 से भी अधिक मज़दूर अब रैली के मैदान में जमा हो चुके थे। साथ ही हज़ारों लोग अपने घरों और बेहड़ों-बाउण्डरियों की छतों पर से भी भाषण सुन रहे थे।

रैली का संचालन कर रहे **कारखाना मज़दूर यूनियन, लुधियाना** के संयोजक **राजविन्दर** ने कहा कि आज की यह रैली पुलिस-प्रशासन को करारा जवाब है जिसने दिसम्बर में मज़दूरों के बर्बर दमन के बाद सोचा था कि अब मज़दूर लम्बे समय तक एकता बनाने का साहस नहीं करेंगे। उन्होंने कहा कि मज़दूरों के जीवन की पल-पल की लूट, शोषण, अन्याय, अपमान और नारकीय परिस्थितियाँ उन्हें शोषकों के विरुद्ध लड़ने के लिए मजबूर करती हैं। जुल्म और दमन से उनकी आवाज़ को दबाया नहीं जा सकता। राजविन्दर ने पंजाब सरकार और लुधियाना पुलिस-प्रशासन को चेतावनी दी कि अगर 42 निर्दोष मज़दूरों पर दर्ज झूठे पुलिस केस रद्द करके उन्हें रिहा नहीं किया गया, दिसम्बर काण्ड के दौरान हुए मज़दूरों के जान-माल के नुकसान के लिए मुआवज़ा नहीं दिया गया, मज़दूरों पर निर्मम अत्याचार और स्त्रियों के साथ बलात्कार के दोषी पुलिस-प्रशासन के अधिकारियों और गुण्डों को सज़ा नहीं दी गयी तो मज़दूर लुधियाना की सड़कों पर और तीखी लड़ाई लड़ने पर मज़बूर होंगे।

नौजवान भारत सभा, पंजाब के संयोजक परमिंदर ने मेहनतकश जनता को एकजुट होकर दमनकारी पूँजीवादी हुक्मरानों के खिलाफ संघर्ष करने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि लुधियाना के दिसम्बर काण्ड के दौरान जनविरोधी क्षेत्रवादी व्यक्तियों, संगठनों ने मेहनतकशों को पंजाबी-प्रवासी के नाम पर बाँटने की जी-तोड़ कोशिशें की थीं। ढण्डारी काण्ड के पीड़ित मज़दूरों के हक में पंजाब के कारखाना मज़दूरों, ग्रामीण मज़दूरों, किसानों, सरकारी कर्मचारियों, नौजवानों की यह एकजुटता रैली और प्रदर्शन इन क्षेत्रवादियों को करारा जवाब भी है। उन्होंने कहा कि अन्य राज्यों से पंजाब में आकर बसे और काम कर रहे मज़दूरों को प्रवासी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अपने ही देश के एक राज्य से दूसरे राज्य में से कोई प्रवासी नहीं हो जाता।

नौजवान भारत सभा, चण्डीगढ़ की संयोजिका नमिता ने कहा कि यह बहुत ही खुशी की बात है कि रैली में स्त्रियाँ भी शामिल हैं। उन्होंने कहा की जब भी ग़रीबों पर हुक्मरानों द्वारा भारी हमला बोला जाता है तब सबसे अधिक जुल्म स्त्रियों को सहना पड़ता है। उन्होंने कहा कि मेहनतकश स्त्रियों को भी पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर इस लुटेरी व्यवस्था को नेस्तनाबूद करने के लिए आगे आना होगा।

रैली में **मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्स यूनियन के प्रधान हरजिन्दर सिंह** ने कहा कि यह विशाल रैली इस बात की गवाह है कि मज़दूरों की आवाज को दमन के ज़रिये दबाया नहीं जा सकता। उन्होंने कहा कि पुलिस बड़े कारख़ानादारों, मौक़ापरस्त नेताओं, धनकुबेरों की ही रक्षा के लिए है। लोगों को सरकार, पुलिस, अदालत और पार्टियों से इंसाफ़ की उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। मज़दूरों-मेहनतकशों का एकजुट संघर्ष ही दमनकारियों से उनकी रक्षा कर सकता है और उन्हें इंसाफ़ दिला सकता है। मज़दूरों को अपने कारख़ानों में यूनियन बनाने के अधिकार के लिए भी लड़ना होगा क्योंकि मज़दूरों को आज उनके संगठित होने के जनवादी अधिकार से भी वंचित रखा जा रहा है। **मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्स यूनियन** के प्रधान **विजय नारायण** ने कहा कि जब भी मज़दूरों ने कुछ हासिल किया है वह लड़कर हासिल किया है। मज़दूरों मेहनतकशों की फौलादी एकता ही उनके हो रहे लूट, शोषण, अन्याय, अपमान, अत्यचारों, दमन का अन्त करेगी।

उनके अलावा रैली को **लोक एकता संगठन** के प्रधान गल्लर चौहान, **मज़दूर यूनियन इलाक़ा खन्ना-समराला** के नेता मलकीत सिंह, **ग्रामीण मज़दूर यूनियन (मशाल)** के नेता चमन सिंह, **भारतीय किसान यूनियन (एकता-उगराहां)** के नेता दर्शन कूहली, **आल इण्डिया सेण्टर आफ ट्रेड यूनियन्स** के नेता बाल किशन, **पंजाब रोडवेज़ इम्पलाइज़ यूनियन (आज़ाद)** के नेता अमरीक सिंह, **लाल झण्डा टेक्स्टाइल एण्ड होज़री मज़दूर यूनियन** के नेता श्याम नारायण यादव, **भारतीय किसान यूनियन (एकता)** के नेता निर्मल सिंह माल, **डेमोक्रेटिक टीचर्स फ्रण्ट** के नेता मा. मलकीत सिंह, **डेमोक्रेटिक**

(पेज 5 पर जारी)

सिख दंगों के दोषियों को सज़ा नहीं दिला सकेगी कोई भी सरकार

जाँच के ढोंग पर ढोंग होते रहेंगे

13 दिसम्बर को संसद में फिर से नवम्बर 1984 के सिख विरोधी दंगों को लेकर बहस हुई। टी.वी. चैनलों की ख़बरों के मुताबिक विपक्ष ने सरकार को घेरने की पूरी कोशिश की। विरोधी पक्ष इससे अधिक न तो कुछ कर सकता है और न ही वह करना चाहता है और सरकार से भी इस मामले में संसदीय उछलकूद से अधिक उम्मीद नहीं की जा सकती। दोनों पक्ष संसद में सिर्फ़ एक काम ही कर सकते हैं और वे इस काम को बख़ूबी अंजाम दे रहे हैं – यानी फालतू बहसबाज़ी। वैसे भी, संसद सिर्फ़ बहस का अड्डा ही तो है।

अक्टूबर 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या के बाद पगलाये कांग्रेसी गुण्डा गिरोहों ने दिल्ली और देश के अन्य शहरों में हज़ारों सिखों को मौत के घाट उतार दिया था। सिखों का क़त्लेआम कर रहे इन गुण्डा गिरोहों के सरगना थे, सज्जन कुमार, भनलाल, जगदीश टाइटलर, हरकिशन लाल भगत आदि। सिखों के इस क़त्लेआम के बारे में इंदिरा गांधी के बेटे राजीव गांधी का ब्यान था, "जब कोई बड़ा पेड़ गिरता है, तो धरती तो काँपती ही है।" उसने बेशर्मी से बेगुनाह सिखों के क़त्लेआम को वाजिब ठहराया। बाद में यह शख़्स देश के प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठा।

नवम्बर 1984 के दंगा पीड़ित 25 वर्ष तक भटकते रहे, लेकिन किसी को कहीं इंसाफ़ न मिला। समय गुज़रने के साथ उनकी संख्या लगातार कम होती चली गई है। उनमें से कई मर गये हैं। इंसाफ़ की माँग करने वालों में से कइयों को डरा-धमका कर चुप करा दिया गया है। कई लापता हैं। इस क़त्लेआम के दोषियों को सजाएँ भी मिलीं। लेकिन राजीव गांधी से लेकर भजन लाल, सज्जन कुमार, जगदीश टाइटलर आदि इस क़त्लेआम के रिंग लीडरों का कुछ भी नहीं बिगड़ा। उनमें से कई कांग्रेस पार्टी के उच्च पदों पर विराजमान हैं। वे प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री, मन्त्रियों की कुर्सियों पर सुशोभित रहे हैं।

जबकि 84 के सिक्ख क़त्लेआम के दोषी पुलिस अधिकारियों में से कई मर चुके हैं। कई रिटायर हो चुके हैं। कई "सबूतों की कमी" के चलते अदालतों में से बरी हो चुके हैं। देश का गृह मन्त्री मज़बूर है। उसका कहना है कि अब रिटायर हो चुके पुलिस अधिकारियों पर मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता क्योंकि देश का क़ानून अदालतों से बरी हो चुके अफ़सरों पर दुबारा मुक़दमा चलाने की इजाज़त नहीं देता। देश के गृह मन्त्री के हाथ बँधे हैं। वह पच्चीस वर्षों से इंसाफ़ की उम्मीद लगाये बैठे लोगों को कह रहा है कि कुछ नहीं हो सकता।

सी.बी.आई. ने सज्जन कुमार, जगदीश टाइटलर और धर्मदास शास्त्री पर पच्चीस वर्ष बाद फिर मुक़दमा चलाने के लिए सरकार से इजाज़त माँगी है। लेकिन अभी तक सरकार की इजाज़त मिली नहीं है। इन तीनों में से धर्मदास शास्त्री मर चुका है। समझ नहीं आती कि सी.बी.आई. मर चुके व्यक्ति पर कैसे मुक़दमा चलायेगी। उल्लेखनीय है कि, इस व्यक्ति को इसी सी.बी.आई. ने पिछले वर्ष निर्दोष करार दिया था। लेकिन जनविरोध के कारण इसने फिर "जाँच" की है। इस पुन: जाँच के आधार पर ही सी.बी.आई. इन तीनों पर फिर से केस चलाने के लिए सरकार की इजाज़त चाहती है।

दरअसल, 84 के दंगों के ज़िम्मेदार व्यक्ति मौजूदा लुटेरी व्यवस्था में इतनी प्रभावशाली जगहों पर हैं कि कोई अदालत, कोई जाँच एजेंसी इनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती और न ही इनका ऐसा कोई इरादा है। यह "गुण्डों की सल्तनत" है। जिस हमाम में सभी नंगे हों वहाँ कौन किसे सज़ा देगा। जाँच एजेंसियाँ, अदालतें, राजनीतिज्ञ सभी एक हैं।

हो सकता है अब फिर से नवम्बर 84 के सिख क़त्लेआम के इन मुख्य दोषियों पर मुक़दमा-मुक़दमा का खेल खेला जाये। लेकिन इससे इनका कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है। चाहे गुजरात हो, चाहे बाबरी मस्जिद गिराया जाना और बाद में मुसलमानों का क़त्लेआम हो और चाहे नवम्बर '84, सब जगह एक ही हाल है। कहीं भी लोगों को न तो इंसाफ़ मिला है और न ही मिलने की कोई उम्मीद है। बात सिर्फ़ दंगों या किसी एक सम्प्रदाय के संगठित क़त्लेआम की नहीं है। देश के करोड़ों मेहनतकश लोगों के लिए कहीं भी किसी भी मामले में कोई इंसाफ़ नहीं है। दरअसल ये अदालतें, जेल, थाने, संसद, विधानसभाएँ, लोगों के इंसाफ़ के लिए नहीं बल्कि उनके दमन के साधन हैं। ये करोड़ों मेहनतकशों के ख़ून-पसीने की कमाई को बड़े पूँजीपतियों, भूमिपतियों, साम्राज्यवादियों द्वारा खुलेआम हड़प लिये जाने को सुनिश्चित करने के साधन हैं।

आम जनता को इंसाफ़ और लूट-दमन से मुक्ति इस लुटेरी व्यवस्था को जड़ से उखाड़ कर ही मिल सकती है। मेहनतकश लोगों को जाति, मज़हब, क्षेत्रीय, भाषाई झगड़ों से ऊपर उठकर अपनी एकता क़ायम करनी होगी। सिर्फ़ तभी लूट-दमन की बुनियाद पर टिके इस निज़ाम को जड़ से उखाड़ा जा सकेगा।

– नीरज

बादल सरकार का महज़ एक नया ड्रामा

'पंजाब प्रवासी कल्याण बोर्ड'

पंजाब सरकार ने 'पंजाब प्रवासी कल्याण बोर्ड' का गठन किया है और सत्ताधारी शिरोमणि अकाली दल (बादल) के नेता और कार्यकर्ता इस बोर्ड के गठन को पंजाब सरकार का एक महान क़दम बताते हुए इसका गुणगान कर रहे हैं। ये लोग ढोल पीट रहे हैं कि बादल सरकार ने 'पंजाब प्रवासी कल्याण बोर्ड' का गठन करके पंजाब में रह रहे 'प्रवासियों' के कल्याण के लिए बहुत ही अच्छा क़दम उठाया है। उनके मुताबिक जो काम आज तक देश के किसी भी राज्य की सरकार ने नहीं किया वह उनकी महान बादल सरकार ने कर दिखाया। वे बड़ी-बड़ी हाँक रहे हैं कि अब 'प्रवासियों' की हर समस्या की सुनवाई होगी।

असल में पंजाब की बादल सरकार ने पंजाब में अन्य राज्यों से आकर रह रहे मज़दूरों को लुभाने के लिए ही यह नया ढोंग रचा है। पिछले वर्ष दिसम्बर के पहले सप्ताह के दौरान हुए लुधियाना के ढण्डारी काण्ड ने पंजाब के ग़रीब मज़दूरों ख़ासकर उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, तथा अन्य राज्यों से आकर बसे मज़दूरों के जीवन की भयानक परिस्थितियों को, उनके साथ हो रहे पल-पल के लूट, शोषण, अन्याय और अपमान को जगजाहिर कर दिया था। लुधियाना काण्ड के चलते पंजाब सरकार की चारों ओर थू-थू हुई। 'प्रवासियों' की हितैषी होने का दिखावा करने के लिए बादल सरकार ने तुरन्त पंजाब प्रवासी कल्याण बोर्ड का गठन कर डाला।

ऐसा शायद पहली बार हुआ है कि किसी राज्य की सरकार ने अपने ही देश के अन्य राज्य से आये लोगों के 'कल्याण' के लिए अलग से कोई बोर्ड गठित किया है। वह भी उसे प्रवासी कहते हुए। भला अपने ही देश में कोई प्रवासी कैसे हो सकता है? प्रवासी शब्द का इस्तेमाल लोगों के क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों का फ़ायदा उठाने के लिए किया गया है। इससे पंजाब में अन्य राज्यों से आकर बसे लोगों का कोई कल्याण तो होने वाला तो है नहीं, बल्कि इसकी जगह इस तरह के बोर्ड का अलग से गठन लोगों के क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों को और मज़बूत ही बनायेगा। इससे पंजाब में पहले से रह रहे लोगों और अन्य राज्यों से आये लोगों के बीच दूरियाँ कम होने के बजाय और बढ़ेंगी क्योंकि इस बोर्ड के गठन के ज़रिये लोगों में इस पूर्वाग्रह को और मज़बूती ही मिलती है कि पंजाब में पहले से रह रहे लोगों के लिए अन्य राज्यों से आये लोग अपने नहीं पराये हैं। इससे पंजाब में अन्य राज्यों से आये लोगों के लिए समस्याएँ बढ़ेंगी ही।

लुधियाना काण्ड से पैदा हुए माहौल से घबराकर बड़ी संख्या में मज़दूरों ने लुधियाना से पलायन कर लिया था। कारखाना मालिकों को मज़दूरों की बेहद कमी होने लगी थी। इसलिए उद्योगपतियों ने भी पंजाब सरकार को काफ़ी कोसा था। उनका कहना था कि पंजाब में लेबर की इतनी भारी कमी तो खालिस्तानी आतंकवाद के दौर में भी महसूस नहीं हुई थी जितनी कि दिसम्बर के लुधियाना काण्ड के बाद हुई है। पूँजीपति चाहते थे कि बादल सरकार मज़दूरों के बड़े स्तर पर हो रहे पलायन को रोकने के लिए कोई क़दम उठाये। 'पंजाब प्रवासी कल्याण बोर्ड' का गठन पूँजीपतियों को यह भरोसा देने के लिए भी किया गया है कि पंजाब सरकार 'प्रवासी' मज़दूरों में 'विश्वास' बहाल करने के लिए कुछ न कुछ कर रही है। ग़ौरतलब है कि 'पंजाब प्रवासी कल्याण बोर्ड' का अध्यक्ष अमृतसर के एक उद्योगपति आर.सी. यादव को बनाया गया है। अन्य पदाधिकारी भी बेहद भ्रष्ट किस्म के व्यक्ति हैं जिन्हें 'अपने' 'प्रवासी' लोगों की समस्याएँ हल करने में कोई दिलचस्पी नहीं है। उदाहरण के तौर पर, बोर्ड का उपाध्यक्ष ठाकुर विश्वनाथ प्रताप सिंह को बनाया गया है।

अगर पंजाब सरकार सचमुच में पंजाब में अन्य राज्यों से आये लोगों की बेहतरी के लिए कुछ करना चाहती तो उसे कोई अलग बोर्ड बनाने की ज़रूरत नहीं थी। उदाहरण के लिए, पंजाब के कारख़ानों की ही हालत देख ली जाये। पंजाब के कारख़ानों में अधिकतर अन्य राज्यों से आये मज़दूर काम करते हैं। कारखानों में काम करने वाले सारे मज़दूर – चाहे वे पंजाब में पहले से रह रहे हों, चाहे अन्य राज्यों से आये हों – सभी नारकीय जीवन जीने को मजबूर हैं। वे 12-14 घण्टे खटते हैं लेकिन बेहद ग़रीबी में जी रहे हैं। कारख़ानों में कोई श्रम क़ानून लागू नहीं हैं। आठ घण्टे दिहाड़ी के क़ानून की कारख़ाना मालिक खुलेआम धज्जियाँ उड़ा रहे हैं। वहाँ न तो मज़दूरों के पहचान पत्र बनते हैं, न ई.एस.आई. कार्ड। अधिकतर के नाम पक्के रजिस्टर पर नहीं होते, उनके पक्के हाज़िरी कार्ड नहीं बनते। कारख़ाने में मज़दूरों की सुरक्षा के उचित इन्तज़ाम नहीं होते। अकसर होने वाले हादसों में मज़दूर अपने हाथ-पैर कटवाते रहते हैं, और मरते रहते हैं। कारखाना मालिकों के अपराधों की लिस्ट बहुत लम्बी है। उनके हाथों लूट-शोषण के शिकार मज़दूरों की कहानी बहुत दर्दनाक है। कारख़ाना मालिकों के ये अपराध और मज़दूरों की दर्दनाक हालत न तो सरकार से छिपी है, न श्रम विभाग से, न पुलिस से, न प्रशासन से। ग़रीबों के अन्य हक, अधिकारों, ज़रूरतों की तो बात ही छोड़िये अगर सिर्फ़ कारख़ानों में आधे श्रम क़ानून भी लागू हो जायें तो पंजाब में अन्य राज्यों से आये मज़दूरों सहित सभी मज़दूरों की ज़िन्दगी में अभूतपूर्व बेहतरी आ सकती है। लेकिन क़ानून लागू करवाने वाले अपने ही आक़ाओं के विरुद्ध कार्रवाई कैसे कर सकते हैं?

'पंजाब प्रवासी कल्याण बोर्ड' के ज़रिये पंजाब सरकार कुछ न कुछ ड्रामे करती रहेगी। लेकिन इससे मज़दूरों के जीवन में कोई बेहतरी नहीं आने वाली है। ऊँट के मुँह में ज़ीरे के समान फ़ण्ड जारी होते रहेंगे जिसमें अधिकतर बोर्ड वाले ही खाते रहेंगे। असल में फ़ण्ड जारी भी इसी लिए होते हैं। लुधियाना काण्ड के पीड़ितों के लिए भी इस बोर्ड के ज़रिये सिर्फ़ 17 लाख रुपये देने का ऐलान किया गया है।

मज़दूरों के पास पंजाबी-प्रवासी के पूर्वाग्रहों से पीछा छुड़ाकर और एकजुट होकर अपने हक-अधिकार की लड़ाई लड़ने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। सिर्फ़ दिखावे के लिए बनाये जाने वाले श्रम विभागों, श्रम मन्त्रालयों, कागज़ी क़ानूनों, कल्याण बोर्डों आदि से मज़दूरों का कोई कल्याण नहीं होने वाला है।

– लखविन्दर

लुधियाना के मेहनतकशों के एकजुट संघर्ष की बड़ी जीत

(पेज 4 से आगे)

इम्प्लाइज़ फ्रण्ट के नेता रमनजीत सन्धू, **टेक्निकल सर्विसेज़ यूनियन** के नेता भरपूर सिंह, **जनवादी अधिकार सभा** के ए.के. मलेरी, **होज़री वर्कर्स यूनियन** के रमेश कुमार, **पीएयू इम्पलाइज़ डेमोक्रेटिक मंच** के जसवंत जीरख ने भी सम्बोधित किया। इस एकजुटता रैली को **लाल झण्डा पंजाब निर्माण मज़दूर यूनियन** (हरदेव सनेत), **पंजाब निर्माण मज़दूर यूनियन** के हरि सिंह साहनी, **पंजाब निर्माण वाटर सप्लाई सीवरेज बोर्ड मज़दूर यूनियन** (मोहन लाल), **किरती किसान सभा** (प्रेम सिंह) का समर्थन प्राप्त था। रैली में **इस्पात इम्पलाइज़ यूनियन, मण्डी गोबिन्दगढ़** के नेताओं और कार्यकर्ताओं ने भी भाग लिया।

दूसरी ओर, अकाली दल, भाजपा, कांग्रेस, बसपा जैसे रंग-बिरंगे झण्डों वाले चुनावी राजनीतिक मदारियों से लेकर अखिल भारतीय पूर्वांचल विकास परिषद जैसे क्षेत्रवादी संगठन भी, जिनके पास मज़दूरों-मेहनतकशों की असल समस्याओं के हल के लिए संघर्ष का कोई कार्यक्रम नहीं है और आज तक हमेशा पूँजीपति हुक्मरानों की सेवा करते आये हैं, ज़ोरशोर से यह प्रचार कर रहे हैं कि मज़दूरों की रिहाई उनकी कोशिशों की बदौलत हुई है। वे सरकार व प्रशासन के साथ हुई टेबल-कुर्सी की तथाकथित बातचीतों का हवाला दे रहे हैं। लेकिन कुछ को छोड़कर सभी मज़दूर जानते हैं कि अगर सरकार, पुलिस, प्रशासन के ख़िलाफ़ लुधियाना के मज़दूर-मेहनतकश सड़कों पर न उतरे होते तो इंसाफ़ नहीं मिल सकता था। वे अच्छी तरह जानते हैं कि टेबल-कुर्सी की बातचीत से जनता के मसले हल नहीं होते। सरकार, पुलिस-प्रशासन ने जनाक्रोश के दबाव में ही बेकसूर मज़दूरों की रिहाई की है। 3-4 दिसम्बर को जब हजारों मज़दूर सड़कों पर रोष-प्रदर्शन के लिए उतरे थे तो ये सभी चुनावी राजनीतिक पार्टियाँ और व्यक्ति मज़दूरों के दमन में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से शामिल थे। यही लोग अब मज़दूरों के वोट हासिल करने के लिए देवता होने का ढोंग कर रहे हैं।

– लखविन्दर

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 1 से आगे)

समाजवादी है और कितना जनवादी है? पिछले साठ वर्षों के दौरान आम भारतीय नागरिक को कितने जनवादी अधिकार हासिल हुए हैं? हमारा संविधान आम जनता को किस हद तक नागरिक और जनवादी अधिकार देता है और किस हद तक, किन रूपों में उनकी हिफ़ाज़त की गारण्टी देता है? संविधान में उल्लिखित मूलभूत अधिकार अमल में किस हद तक प्रभावी हैं? संविधान में उल्लिखित नीति-निर्देशक सिद्धान्तों से राज्य क्या वास्तव में निर्देशित होता है? ये सभी प्रश्न एक विस्तृत चर्चा की माँग करते हैं। इस निबन्ध में हम थोड़े में संविधान के चरित्र और भारत के जनवादी गणराज्य की असलियत को जानने के लिए कुछ प्रातिनिधिक तथ्यों के ज़रिये एक तस्वीर उपस्थित करने की कोशिश करेंगे।

किसी भी चीज़ के चरित्र को संक्षेप में, सही-सटीक तरीक़े से समझने के लिए, ऊपरी टीमटाम और लप्पे-टप्पे को भेदकर उसके अन्दर की सच्चाई को जानने का सबसे उचित-सटीक तरीक़ा यह होता है कि हम उस चीज़ के जन्म, विकास और आचरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया की पड़ताल करें। यही पहुँच और पद्धति अपनाकर हम सबसे पहले भारतीय संविधान के निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से चर्चा की शुरुआत कर रहे हैं। इसके बाद हम संविधान सभा के गठन और संविधान-निर्माण की प्रक्रिया पर चर्चा करेंगे। इसके बाद इसके चरित्र-विश्लेषण और भारतीय गणराज्य के चाल-चेहरा-चरित्र को जानने-समझने की बारी आयेगी।

संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज बहुत कम लोगों को ही इस तथ्य की जानकारी है कि जो संविधान भारतीय लोकतन्त्र (जनवाद) का "पवित्र" आधार ग्रन्थ है, जो हर नागरिक के लिए अनुल्लंघ्य और बाध्यताकारी है, उसका निर्माण भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों ने नहीं किया था, न ही चुने हुए प्रतिनिधियों के किसी निकाय द्वारा उसे पारित ही किया गया था। संविधान बनाने वाली संविधान सभा को उन प्रान्तीय विधानमण्डल के सदस्यों ने चुना था, स्वयं जिनका चुनाव देश की कुल वयस्क आबादी के मात्र 11.5 प्रतिशत हिस्से से बने निर्वाचक मण्डल ने किया था। ज़ाहिर है कि इनमें से चन्द एक कांस्टीच्युएंसी से चुने गये प्रतिनिधियों को छोड़कर शेष सभी सम्पत्तिशाली कुलीनों के प्रतिनिधि थे। यानी संविधान सभा सार्विक नहीं बल्कि अतिसीमित वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी गयी थी और प्रत्यक्ष नहीं बल्कि परोक्ष चुनाव के आधार पर चुनी गयी थी। इन चुने गये प्रतिनिधियों के अतिरिक्त उसमें राजाओं-नवाबों के मनोनीत प्रतिनिधि थे। कुछ उच्च मध्यवर्गीय विधिवेत्ता और प्रशासकों को भी उसमें मनोनीत किया गया था। यहाँ यह भी जोड़ दें कि इस संविधान सभा को चुनने वाले प्रान्तीय विधान मण्डलों का चुनाव (अतिसीमित मताधिकार पर आधारित होने के अतिरिक्त) धार्मिक एवं जातिगत आधार पर पृथक् निर्वाचक-मण्डलों द्वारा किया गया था। चुनाव के इन आधारों और प्रक्रिया का निर्धारण 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट, 1935' के द्वारा औपनिवेशिक शासकों ने किया था। संविधान सभा ने 1946 में जब काम करना शुरू किया तो देश अभी ग़ुलाम था। 1950 में संविधान जब बनकर तैयार हुआ तो देश आज़ाद हो चुका था। लेकिन सार्विक मताधिकार के आधार पर चुने गये किसी नये निकाय द्वारा पारित या पुष्ट किये जाने के बजाय उसी पुरानी संविधान सभा द्वारा इसे पारित करके पूरे देश की जनता पर इसे लाद दिया गया।

दरअसल 15 अगस्त 1947 को राजनीतिक आज़ादी मिलने के बाद सत्ता सँभालने वाला भारतीय पूँजीपति वर्ग जितना जनवादी था और साम्राज्यवाद से जिस हद तक इसकी आज़ादी वास्तविक थी, उसी हद तक यह भारतीय जनता को जनवाद दे सकता था। भारत के बुर्जुआ जनवाद और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का जितना खण्डित-विकृत-विकलांग चरित्र था, यहाँ का संविधान और उसकी निर्माण-प्रक्रिया भी उसी से मेल खाती हुई थी। इस बात को ठीक से समझने के लिए हमें इतिहास में थोड़ा और पीछे जाना होगा।

भारत का पूँजीपति वर्ग ऊपर से आरोपित औपनिवेशिक सामाजिक संरचना के भीतर से पैदा हुआ था। आर्थिक धरातल पर, (यूरोप की तरह) कृषि-दस्तकारी-मैन्यूफ़ैक्चरिंग' इसकी विकास-यात्रा के सोपान नहीं थे। वैचारिक-राजनीतिक धरातल पर पुनर्जागरण (रिनेसाँ)-प्रबोधन (एनलाइटेनमेण्ट)-जनवादी क्रान्ति इसकी विकास-प्रक्रिया की मंज़िलें नहीं थीं। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इसका औद्योगिक आधार बेहद कमज़ोर था, यह मुख्यत: ब्रिटिश औद्योगिक पूँजी के अधीन था। तब इसका राजनीतिक स्वर वफ़ादार ब्रिटिश प्रजा का राजनीतिक स्वर था। इसके भीतर जब अपनी औद्योगिक पूँजी के विकास और राष्ट्रीय बाज़ार में हिस्सेदारी की आकांक्षा ने उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में, आर.सी. दत्त, दादाभाई नौरोजी आदि की राजनीतिक धारा को जन्म दिया जिसे कुछ इतिहासकार प्राय: आर्थिक राष्ट्रवाद का नाम देते हैं। यह धारा औपनिवेशिक गर्भ में पली- बढ़ी भारतीय पूँजी के हितों से भी अधिक, कुछ दबी ज़ुबान से और कुछ मुखर रूप से, रियायतों की माँग करने वाले पढ़े-लिखे औपनिवेशिक मध्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी जो ब्रिटिश प्रजा के रूप में अपने कुछ अधिकार माँग रहा था। फिर इसी की प्रतिद्वन्द्वी रैडिकल राष्ट्रवाद की एक दूसरी धारा भी (तिलक की धारा) पैदा हुई, जो मध्य वर्ग के निचले-मँझोले संस्तरों की राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करती थी। 1905 तक कांग्रेस में भारतीय पूँजीपति की सक्रियता कुछ और बढ़ी। प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के उलझे होने के कारण 1914-18 के दौरान जब ब्रिटेन से भारत को होने वाले माल-निर्यात और पूँजी-निर्यात में भारी कमी आयी, और युद्ध सम्बन्धी उपकरणों और अन्य सामानों के भारी उत्पादन की आसन्न आवश्यकता पैदा हो गयी, तो इस दौरान भरतीय उद्योगों का तेज़ और भारी विकास हुआ। यानी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में ब्रिटेन के उलझाव का लाभ उठाकर भारतीय पूँजीपतियों ने अपनी ताक़त बढ़ाई और इसी ताक़त के अनुपात में उसकी राजनीतिक आवाज़ में भी दम आ गया। 1916 में नरम दल और गरम दल के समझौते के बाद कांग्रेस भारतीय पूँजीपति वर्ग की क्लासिकी राजनीतिक पार्टी के रूप में काम करने लगी और गाँधी क्लासिकी बुर्जुआ सिद्धान्तकार और रणनीतिकार के रूप में सामने आये।

वफ़ादार ब्रिटिश प्रजा से शुरू करके असहयोग आन्दोलन, नमक आन्दोलन की मंज़िलों से होते हुए 'भारत छोड़ो आन्दोलन' तक गाँधी की विचारयात्रा भारतीय पूँजीपति वर्ग की विचारयात्रा और उसके विकास की कहानी है। 'डोमीनियन स्टेटस' फिर 'होम रूल' और आज़ादी की माँग तक की यात्रा भारतीय पूँजीपति वर्ग के क्रमश: शक्ति-संचय के साथ ही उसके आत्मविश्वास के बढ़ते जाने का नतीजा थी।

1916 से लेकर 1947 तक भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सभी हिस्सों का प्रतिनिधित्व करते हुए, कांग्रेस ने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को कोई 'रैडिकल' दिशा देने के बजाय 'समझौता-दबाव-समझौता' की रणनीति अपनायी। जनाकांक्षाओं को जगाकर आन्दोलन का दबाव बनाकर वह पूँजी के विकास के अनुकूल कुछ राजनीतिक अधिकार हासिल करती थी और फिर समझौता करके जन पहलक़दमी को बुर्जुआ वर्ग-हितों के सीमान्तों का अतिक्रमण करने से रोक देती थी। इसके बाद फिर वह अगले अनुकूल अवसर का इन्तज़ार करती थी। उसने एक चालाक बौने की तरह आम जनता के जनसंघर्षों का अपने पक्ष में इस्तेमाल किया, जनपहलक़दमी और जुझारूपन को कभी भी निर्बन्ध होकर अपने नियन्त्रण से बाहर नहीं जाने दिया, सम्पूर्ण आज़ादी, रैडिकल भूमि सुधार, राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय के अधिकार, सार्विक मताधिकार आदि रैडिकल माँगों पर जनता को लामबन्द करना और फिर उन माँगों से पीछे हटकर विश्वासघात करना – यह कांग्रेस की आम फ़ितरत थी। कांग्रेस के भीतर दक्षिणपन्थी धड़ों के अतिरिक्त मध्यमार्गी और गरमागरम आमूलगामी बदलाव और समाजवाद की बात करने वाले नेहरू और सुभाष जैसे लोग और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के रैडिकल निम्न बुर्जुआ नेता भी मौजूद थे। कांग्रेस मुख्यत: गाँधी के नेतृत्व में (जब वे औपचारिक तौर पर कांग्रेस से अलग थे, तब भी) ज़रूरत के मुताबिक़ रैडिकल धड़ों का भी इस्तेमाल (दबाव बनाने के लिए और जनसमुदाय को साथ लेने के लिए भी) करती थी और फिर सभी धड़ों में सन्तुलन भी स्थापित करती थी।

इस तरह 'समझौता-दबाव-समझौता' के रास्ते राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा पर अपना वर्चस्व और नियन्त्रण बरक़रार रखते हुए कांग्रेस राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने की मंज़िल तक पहुँची। दूसरे विश्वयुद्ध के कुछ वर्ष बीतते ही यह तय हो चुका था कि मित्र राष्ट्रों की विजय की स्थिति में भी साम्राज्यवादी विश्व के चौधरी की कुर्सी से ब्रिटिश उपनिवेशवाद को हटना पड़ेगा, उपनिवेशवाद का दौर अब ज़्यादा नहीं चल सकता। अमेरिका का मानना था और ब्रिटेन के उदारवादी एवं सामाजिक जनवादी नेताओं का भी मानना था कि यदि जनक्रान्तियों और समाजवाद के हौवे से बचना है तो भारत जैसे उपनिवेशों में वहाँ के बुर्जुआ वर्ग को, अपने साम्राज्यवादी हितों की अधिकतम सम्भव हिफ़ाज़त के लिए भरपूर मोलतोल करके राजनीतिक सत्ता सौंप देनी चाहिए। भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए स्थिति अनुकूल थी। 1942 में 'भारत छोड़ो' का नारा देकर उसने दबाव बनाने में पूरी ताक़त झोंक दी, फिर 1945 से, राजनीतिक आज़ादी की दिशा सुनिश्चित जानकर, वह समझौता वार्ताओं में मशग़ूल हो गयी। 1946 में सार्विक मताधिकार की माँग से पीछे हटकर जब वह संविधान बनाने की प्रक्रिया आगे बढ़ाने की हड़बड़ी में थी, तब इसका एक कारण देशव्यापी मज़दूर उभार, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्ष और नौसेना विद्रोह से बना राष्ट्रीय तूफ़ानी माहौल भी था, जो उस समय तक के विश्व-परिवेश में सर्वहारा क्रान्ति का हौवा पैदा कर रहा था (अब यह दीगर बात है कि विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर, बँटे हुए नेतृत्व और ढीले-ढाले ढाँचे वाली कम्युनिस्ट पार्टी इस दौर का कोई भी लाभ नहीं उठा सकी।)

1947 में देश को राजनीतिक आज़ादी तो मिली, पर साम्राज्यवादियों के आर्थिक हित (लूट के अवसर) सुरक्षित रहे। राज्यसत्ता अब भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथों में थी, लेकिन यह राज्यसत्ता साम्राज्यवादी विश्व से आमूल विच्छेद करने के बजाय उनके भी आर्थिक हितों की गारण्टर थी। यह सीमित आज़ादी और खण्डित सम्प्रभुता वाला देश था। भारतीय पूँजीपति वर्ग को यह सुविधा मिल गयी थी कि वह कई साम्राज्यवादी ताक़तों से पूँजी और तकनीक लेते हुए मोलतोल कर सके और जनता से निचोड़े गये मुनाफ़े में अपनी हिस्सेदारी के लिए शर्तें रख सके और दबाव बना सके। भारतीय पूँजीपति वर्ग अपने देश में निचोड़े गये अधिशेष का बड़ा भागीदार था, पर विश्वस्तर पर साम्राज्य-वादियों का जूनियर पार्टनर ही था। यह देशी-विदेशी पूँजी दोनों का साझा हित था कि यहाँ की खेती-बाड़ी का पूँजीवादी विकास हो और उनके माल का, पूँजी का और श्रमशक्ति का राष्ट्रीय बाज़ार निर्मित हो। लेकिन यह काम यदि क्रान्तिकारी ढंग से, एक क्रान्तिकारी झटके के साथ किया जाता, तो जनता उसी क्रान्तिकारी आवेग के साथ और आगे जाने की कोशिश करती और इससे बुर्जुआ सत्ता के लिए ख़तरा पैदा हो जाता। इसलिए पूँजीपति वर्ग ने धीरे-धीरे सामन्ती भूमि सम्बन्धों को तोड़ने का रास्ता चुना। इससे पुराने भूस्वामियों के एक बड़े हिस्से को, अपने को पूँजीवादी भूस्वामी बना लेने का मौक़ा मिल गया और धनी और खाते-पीते काश्तकारों-रैय्यतों के बीच से कुलकों-फार्मरों का विकास हुआ। गाँवों में पूँजीवाद का सामाजिक आधार मज़बूत हुआ। पूँजी की कमी को दूर करने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग केवल विदेश पूँजी पर ही निर्भर नहीं रहा (इससे साम्राज्यवाद पर उसकी निर्भरता बढ़ जाती), उसने समाजवाद के नाम पर, जनता के पैसे से पब्लिक सेक्टर और राजकीय पूँजीवाद का विकास किया। इस प्रक्रिया में नौकरशाह पूँजीपति वर्ग और मध्यवर्ग के ऊपरी-मँझोले संस्तरों का भी तेज़ी से विकास हुआ। जब भारत के पूँजीपति वर्ग ने पर्याप्त ताक़त हासिल कर ली तो उसी पब्लिक सेक्टर के प्रतिष्ठानों को औने-पौने क़ीमतों पर उसे बेच दिया गया। पर यह आगे की कहानी है, उदारीकरण-निजीकरण के दौर की। हमारा विषय क्षेत्र यहाँ भारतीय संविधान और गणतन्त्र के चरित्र की चर्चा करना है।

उपरोक्त ऐतिहासिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि की चर्चा हम यह स्पष्ट करने के लिए कर रहे हैं कि संविधान शासक वर्ग की हितपोषक नीतियों की मुखर और घनीभूत अभिव्यक्ति होता है, उसकी राज्यसत्ता की बुनियादी आचार संहिता होता है। जिस बुर्जुआ वर्ग ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोई रैडिकल संघर्ष करने के बजाय 'समझौता-दबाव-समझौता' की रणनीति अपनाकर सत्ता हासिल की, जो औपनिवेशिक संरचना के गर्भ से पैदा हुआ था और साम्राज्यवादी युग में पला-बढ़ा था, जिसकी इतिहास-यात्रा "पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति" की नहीं थी, जिसकी राजनीतिक आज़ादी भी कटी-फटी, अधूरी और विकृत थी, जिसने साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद नहीं किया, जिसने पूँजीवादी जनवादी भूमि सुधार के काम को रैडिकल भूमि क्रान्ति के द्वारा नहीं, बल्कि धीरे-धीरे रेंगते हुए, किश्तवार, ग़ैर-क्रान्तिकारी ढंग से किया, वह बुर्जुआ वर्ग जनता को अति सीमित नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकार ही दे सकता है और व्यवस्था पर थोड़ा-बहुत राजनीतिक संकट पैदा होते ही वह इन सीमित जन अधिकारों को भी छीनकर निरंकुश सर्वसत्तावादी शासन की स्थापना के लिए तैयार रहेगा। ऐसा ही भारतीय पूँजीपति वर्ग का इतिहास रहा है और ऐसा ही उसका संविधान रहा है। यह संविधान भारत की जनता को वस्तुत: अतिसीमित जनवादी अधिकार देता है, बाक़ी बड़ी-बड़ी बातों की लफ़्फ़ाज़ी बहुत करता है। इसीलिए काफ़ी मोटा है।

जिन देशों में पूँजीपति वर्ग क्रान्ति करके सत्ता में आया, उनकी स्थिति से एकदम अलग, यहाँ का पूँजीपति वर्ग अपनी आर्थिक ताक़त बढ़ते जाने और राजनीतिक आन्दोलन को क्रमश: (दबाव का पहलू बढ़ाते हुए) आगे बढ़ाते हुए कुछ विधायी (लेजिस्लेटिव यानी विधान बनाने सम्बन्धी) अधिकारों और कुछ कार्यकारी (एक्ज़ीक्यूटिव या शासन-प्रशासन में भागीदारी विषयक) अधिकारों की माँग उठाता रहा और क़ानूनी-विधायी दायरे में यह लड़ाई-लड़ता रहा। हर बार वह जनान्दोलनों के दबाव का इस्तेमाल करता रहा और भारतीय दीवानी कचहरियों के घुटे हुए मुक़दमेबाज़ों की तरह अपने मामले की पैरवी करता रहा। यह काम उसकी राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ने बड़ी कुशलता के साथ किया और इस तरह कई औपनिवेशिक क़ानूनों के ज़रिये होते हुए वह 1935 के 'गवर्नवमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट' और फिर 1946 में संविधान सभा बनाकर संविधान बनाने की प्रक्रिया तक पहुँचा।

1920 तक, औपनिवेशिक भारत की विधान परिषदों को वस्तुत: कोई अधिकार प्राप्त नहीं था।

(पेज 7 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 6 से आगे)

इनकी हैसियत वायसराय की सलाहकार परिषद से अधिक नहीं होती थी। 1857 के महान जनविद्रोह के बाद, ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग ने, औपनिवेशिक प्रशासन सीधे ब्रिटिश संसद और सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में आने के बाद, पहला काम फ़ौजी सुधारों का किया जिसका एक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि भारतीय सिपाहियों पर बेहतर नियन्त्रण के लिए भारतीय सामन्ती अभिजातों और उन्हीं के बीच से आये शहरी, शिक्षित मध्यवर्गीय कुलीनों को फ़ौज की अफसरी में हिस्सा मिले (और केवल उन्हें ही मिले, आम भारतीय को नहीं) दूसरा प्रशासनिक कदम था 1861 का इण्डिया कौंसिल ऐक्ट, जिसके तहत वायसराय, तीनों (बंगाल, मद्रास और बम्बई) प्रेसिडेंसियों के गवर्नरों तथा उत्तर-पश्चिम प्रान्त और पंजाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नरों के अधीन विधान परिषदें क़ायम की गयी, जो उन्हें सलाह दे सकती थीं। इनमें से आधे सदस्य वे होते थे, जो सिविल सर्विस में नहीं थे। ये प्रतिनिधि सामन्तों और वाणिज्य-व्यापार से जुड़े शहरी अभिजनों के बीच से चुनकर आते थे। हाउस ऑफ़ कॉमन्स में भारत मन्त्री सर चार्ल्स वुड ने स्पष्ट कर दिया कि इस क़ानून का उद्देश्य उच्चपदस्थ और अभिजात भारतीयों को ब्रिटिश शासन का पक्षधर बनाये रखना और औपनिवेशिक शासन को मज़बूती प्रदान करना था। उल्लेखनीय है कि लेजिस्लेटिव कांउसिलों (विधायी परिषदों) के साथ-साथ वायसराय की एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिलों (कार्यकारी परिषदों) का गठन हुआ तथा तीनों प्रेसिडेंसियों और उत्तर पश्चिम प्रान्त में हाई कोर्टों की स्थापना की गयी।

फिर आया 1892 का इण्डियन काउंसिल ऐक्ट, जिसमें केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानपरिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी। जिनमें से कुछ का निर्वाचन नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों आदि के ज़रिये परोक्ष चुनाव द्वारा होना था। फिर भी परिषदों में सरकारी बहुमत था और वायसराय या गवर्नर जनरलों के निर्णयों को प्रभावित करने के मामले में उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। इस क़ानून का खाका बनाने वाले लार्ड डफ़रिन और अन्य ब्रिटिश राजनीतिज्ञों-नौकरशाहों का मानना था कि इसके ज़रिये कुछ मुखर एवं प्रबुद्ध उच्च मध्यवर्गीय भारतीय नेताओं को (कांग्रेस के वे तत्कालीन नेता, जिन्हें कुछ इतिहासकार आर्थिक राष्ट्रवादी नाम देते हैं) औपनिवेशिक राजनीतिक ढाँचे में शामिल कर लेने से भाप निकलती रहेगी और राजनीतिक दबाव कम होता रहेगा। इस उद्देश्य में वे सफल भी रहे, लेकिन एकबार ऐसी परिषद के अस्तित्व में आ जाने के बाद इसकी मूल अन्दरूनी गति की एक विरोधी गति भी (गौण ही सही) इसके भीतर से पैदा हुई जो उपनिवेशवादियों की इच्छा से स्वतन्त्र थी। 1893 से 1909 के बीच, वफ़ादार ब्रिटिश प्रजा के रूप में न्यायपूर्ण प्रशासन, शिक्षा आदि की माँग करने वाले तथा भारत का अकूत धन ब्रिटेन ले जाने के बजाय उसे यहीं उद्योग और वाणिज्य, शिक्षा, यातायात-परिवहन आदि में लगाने की माँग करने वाले गोखले, फ़ीरोज़शाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नेता विधान परिषदों में बोलते हुए आर्थिक दोहन और भ्रष्ट निरंकुश प्रशासन के बारे में जो तथ्य देते थे, उनका पढ़े-लिखे मध्यवर्ग पर मन्तव्य से अधिक राजनीतिक प्रभाव पड़ता था। तिलक और कुछ अन्य गरम दली नेताओं ने भी विधान परिषदों में हिस्सा लिया। उस समय तक नौरोजी, गोखले और तिलक कनाडा और आस्ट्रेलिया की तरह स्वशासित उपनिवेशों की तर्ज़ पर भारत में स्वशासन की माँग रख रहे थे। बहरहाल, उस दौर की केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदें क़ानूनी तौर पर तो एकदम अधिकारविहीन थीं, लेकिन नवजात भारतीय बुर्जुआ वर्ग की रियायतों की माँग और मध्यवर्ग के मरियल नवजात राष्ट्रवाद को उन मंचों पर अभिव्यक्त होने का अवसर ज़रूर मिला।

औपनिवेशिक काल के संवैधानिक-वैधिक इतिहास का अगला मुक़ाम था, मॉरले-मिण्टो सुधार और 1909 का 'इण्डियन काउंसिल ऐक्ट।' इस समय की राजनीतिक पृष्ठभूमि को (जिसकी संक्षिप्त चर्चा ऊपर की जा चुकी है)। बाल-लाल-पाल जैसे गरम दलीय नेताओं और अजीत सिंह आदि के प्रभाव से (पूर्ण आज़ादी की माँग न रखते हुए भी) देश के विभिन्न हिस्सों में जनान्दोलन उठने लगे थे। मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी आतंकवाद और मज़दूरों-किसानों के पहले की अपेक्षा अधिक संगठित आन्दोलन की शुरुआत हो चुकी थी। मध्यवर्ग का विस्तार होने के साथ ही, उसके निचले संस्तरों को राष्ट्रवादी विचार प्रभावित करने लगे थे। (विशेषकर देशी भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं की इसमें विशेष भूमिका थी।) बंग-भंग के बाद सत्ता एक उग्र जनान्दोलन की साक्षी हो चुकी थी।

तत्कालीन वायसराय मिण्टो और भारत मंत्री मॉरले के संवैधानिक सुधारों और उनकी रोशनी में बने 1909 के 'इण्डियन काउंसिल ऐक्ट' का औपनिवेशिक भारत के इतिहास में एक विशेष महत्व है। राजनीतिक अशान्ति से निपटने के लिए मॉरले और मिण्टो ने ऐसी नीतियाँ तय की जो कमोबेश 1947 तक औपनिवेशिक शासन का मानक बनी रहीं। इन नीतियों के तीन प्रमुख अंग थे – 'दमन और आतंक', 'नरम दल को पक्ष में लेने के लिए रियायतें' तथा 'फूट डालो और राज करो' की नीति। 1910 में लागू 'इण्डियन काउंसिल ऐक्ट' के मुताबिक केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाकर कुल सदस्य संख्या की आधी कर दी गयी। लेकिन इसके साथ ही, बड़े शातिराना ढंग से निर्वाचन क्षेत्रों का बँटवारा जातीय और धार्मिक आधार पर करके साम्प्रादायिकता की राजनीति की ज़मीन तैयार की गयी। यह एक अलग कहानी है कि आगे चलकर किस प्रकार अपने संकीर्ण वर्ग-स्वार्थ के चलते भारतीय बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि साम्प्रदायिक राजनीति और देश-विभाजन के औपनिवेशिक कुचक्र को न केवल रोकने में विफल रहे, बल्कि कई मुकामों पर स्वयं इस प्रक्रिया में सहायक बने गये और अन्ततः विभाजन के निर्णय को स्वीकार किया। 1909 के क़ानून के तहत केन्द्रीय काउंसिल के 68 प्रतिनिधियों में 36 सरकारी अधिकारी और 5 गैरसरकारी व्यक्ति नामांकित किये जाते थे। 27 निर्वाचित प्रतिनिधियों में से 6 का चुनाव बड़े ज़मीन्दार और दो का अंग्रेज़ पूँजीपति करते थे। शेष 19 सीटें सामान्य और मुस्लिम निर्वाचक मण्डलों में बँटी थीं, जिसमें से मुस्लिम मतदाताओं को तो प्रत्यक्ष मताधिकार प्राप्त था, लेकिन सामान्य श्रेणी के सीटों पर परोक्ष चुनाव, दो-तीन चरणों में होते थे। तुर्रा यह कि इस तरह से बनी इन विधान परिषदों की हैसियत भी वायसराय और उच्च प्रशासकों के फ़ैसलों में हस्तक्षेप करने की नहीं बनती थी। प्रान्तीय विधान परिषदों की भी यही स्थिति थी। इस क़ानून का मुख्य लक्ष्य सम्पत्तिशाली वर्गों में औपनिवेशिक शासन का आधार व्यापक बनाना था और साथ ही साम्प्रदायिक जातिगत आधार पर जनसमुदाय को बाँटना था।

औपनिवेशिक 'संवैधानिक प्रयोगों में 1909 के इण्डियन काउंसिल ऐक्ट की उम्र सबसे कम थी। 9 वर्षों बाद ही, 1919 में मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने इसे पूरी तरह से बदल दिया। इस रिपोर्ट के आधार पर बना गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डियन ऐक्ट 1919 में लागू हुआ। यह क़ानून बनने के समय की राजनीति आर्थिक पृष्ठभूमि की चर्चा हम कर चुके हैं। महायुद्ध के दौरान अपनी आर्थिक शक्ति बढ़ाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग ज़्यादा दबाव बनाने और ज़्यादा माँग करने की स्थिति में आ चुका था। तिलक के होम रूल आन्दोलन , शहरी मध्य वर्ग के आन्दोलन, किसानों-मज़दूरों के बढ़ते आन्दोलन, क्रान्तिकारी आतंकवाद और विश्वयुद्ध के दौरान सशस्त्र विद्रोह की तीन विफल कोशिशों, गदर पार्टी की भूमिका और अक्टूबर 1917 की रूसी क्रान्ति के राष्ट्रीय आन्दोलन, मज़दूर वर्ग और बुद्धिजीवियों पर पड़े प्रभाव को एकसाथ मिलाकर देखें तो मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार और 1919 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' की ज़रूरत, चरित्र और लक्ष्य को आसानी से समझा जा सकता है। नये गृहसचिव मॉण्टेग्यू ने हाउस ऑफ कॉमन्स में घोषणा की कि प्रस्तावित क़ानून का लक्ष्य है भारतीय प्रशासन में भारतीय जनता को भागीदार बनाना और स्वशासन की विभिन्न संस्थाओं का क्रमिक विकास करना जिससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़ी कोई उत्तरदायी सरकार स्थापित की जा सके। वास्तव में, इसका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य से नाभिनालबद्ध सामन्तों के अतिरिक्त भारतीय बुर्जुआ वर्ग को भी शासन में कुछ रस्मी भागीदारी देना तथा जनान्दोलन पर पानी के छींटे मारना था। 1919 के ऐक्ट ने केन्द्र में दो सदस्यों की प्रणाली (काउंसिल ऑफ स्टेट और लेजिस्लेटिव असेम्बली की प्रणाली) स्थापित की, जिनमें निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत तो था, लेकिन मन्त्रियों पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था और वायसराय को वीटो का अधिकार भी था। यही स्थिति प्रान्तों की विधान परिषदों, मन्त्रियों और गवर्नरों की थी। नये क़ानून ने न केवल धार्मिक-जातिगत आधार पर पृथक् निर्वाचक मण्डलों को बनाये रखा, बल्कि उन्हें काफ़ी बढ़ा भी दिया। निर्वाचक मण्डलों की संख्या प्रान्तों में बढ़कर 55 लाख और केन्द्रीय सदनों के लिए 15 लाख हो गयी। यह देश की वयस्क जनसंख्या के मुश्किल से एक से तीन प्रतिशत (ज़्यादातर ऊपरी, कुलीन हिस्से को) भाग को ही अपने दायरे में लेता था। इतनी रियायतों से न तो भारतीय बुर्जुआ वर्ग सन्तुष्ट था, न ही जनभावनाओं के लिए ये 'सेफ्टीवॉल्व' या 'कुशन' का ही काम कर पायीं। इसका प्रमाण था 1919-22 के दौरान का प्रचण्ड साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन जिसकी कमान जब बुर्जुआ वर्ग और उसकी पार्टी कांग्रेस के हाथ से निकलती दीखी, 'समझौता-दबाव-समझौता' की रणनीति में दबाव का पहलू जब बुर्जुआ सीमाओं को लाँघने का ख़तरा पैदा करने लगा, तो गाँधी ने चौरीचौरा काण्ड के बहाने असहयोग आन्दोलन को वापस ले लिया।

1922-27 का दौर, असहयोग आन्दोलन की वापसी से पैदा हुई निराशा और कांग्रेस के बुर्जुआ राष्ट्रवादी नेतृत्व से जनसमुदाय के मोहभंग के कारण, बुर्जुआ राष्ट्रवादी राजनीति के भीतर ठहराव और फूट का दौर था। स्वराज पार्टी वाले कौंसिलों में भागीदारी कर रहे थे। अपरिवर्तनवादी उनका विरोध कर रहे थे। गाँधी हरिजन उत्थान आदि रचनात्मक कार्यों में लगे थे। इससे पैदा हुई रिक्तता में, एक ओर मुस्लिम साम्प्रदियकता और हिन्दू साम्प्रदायिकता की राजनीति तेज़ी से पाँव पसार रही थी, दूसरी ओर क्रान्तिकारी आतंकवाद (जिसका बड़ा हिस्सा कम्युनिज़्म की ओर आकृष्ट हो रहा था), कम्युनिस्ट पार्टी और मज़दूर किसान पार्टियों की राजनीति, मज़दूर आन्दोलन, किसान आन्दोलन और युवा आन्दोलन रूप में नयी शक्तियाँ राजनीतिक रंगमंच पर प्रभावी हो रही थीं। यह प्रक्रिया 1927 के बाद के वर्षों में भी तेज़ी से आगे बढ़ी। 1928 में भारत में प्रशासन के तरीकों के सुझाव पेश करने के लिए नियुक्त साइमन कमीशन जब भारत आया तो कांग्रेसी, स्वराजियों, क्रान्तिकारियों, कम्युनिस्टों सभी ने उसका विरोध किया। साइमन के बहिष्कार और बारदोली सत्याग्रह से गाँधी और कांग्रेस की प्रतिष्ठा फिर से बहाल हो गयी। 1928 में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में बनी संविधान समिति ने औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव रखा। कांग्रेस के रैडिकल धड़े ने (जो मुख्यतः रैडिकल बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ हिस्सा था) पूर्ण स्वराज्य की माँग को आगे बढ़ाया। गाँधी की अवस्थिति बीच की थी, सन्तुलनकारी थी और वही बुर्जुआ वर्ग की प्रतिनिधि अवस्थिति थी। कांग्रेस के 1929 के लाहौर अधिवेशन द्वारा पूर्ण स्वराज्य की घोषणा किये जाने के बाद भी गाँधी की भाषा यह हुआ करती थी कि यदि निर्धारित समय के भीतर 'डोमीनियन स्टेटस' नहीं मिल जाये तो हम पूर्ण स्वराज्य के लिए लड़ेंगे। 1930-35 के दौर में, नमक सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, गोलमेज़ सम्मेलन, गाँधी-इरविन समझौता, पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन, काउंसिल राजनीति की वापसी और कांग्रेस के भीतर "वाम" और दक्षिण प्रवृत्तियों के टकराव के दौरान गाँधी ने "समझौता-दबाव-समझौता" की राजनीति का कुशलतम प्रयोग किया। सत्ता पर दबाव के लिए वे कांग्रेसी "वाम धड़े" का इस्तेमाल करने के साथ ही उग्र जनान्दोलनों के बेकाबू हो जाने का भी भय दिखलाते थे, वर्ग संघर्ष का भी भय दिखलाते थे और कांग्रेस के भीतर के निम्न बुर्जुआ रैडिकल तत्वों को नियन्त्रित करने के लिए नरमपंथी-दक्षिणपंथी धड़े का इस्तेमाल करते थे।

1935 का गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट भारतीय बुर्जुआ वर्ग और पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन के दबाव के आगे शासन विधान में बदलाव करके भारतीय बुर्जुआ वर्ग को कुछ और रियायतें देने की औपनिवेशिक नीति की अभिव्यक्ति था। दूसरी ओर यह औपनिवेशिक सत्ता के सामाजिक आधारों के विस्तार की एक महत्वपूर्ण कोशिश थी। नवम्बर 1934 के काउंसिल चुनावों में केन्द्रीय विधान परिषद में कांग्रेस को आधे से अधिक मत एवं स्थान मिले थे। नये केन्द्रीय विधानमण्डल में साइमन कमीशन और गोलमेज़ सम्मेलन की सिफ़ारिशों पर आधारित 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया बिल' को किसी भी पार्टी ने समर्थन नहीं दिया, फिर भी अगस्त, 1935 में ब्रिटिश संसद ने इस ऐक्ट का अनुमोदन कर दिया। इस नये शासन-विधान में निर्वाचकों की संख्या को विस्तारित कर दिया गया था। अब देश की वयस्क आबादी के 11.5 प्रतिशत हिस्से को मताधिकार मिल गया था, पर इसका भी बहुलांश, ज़ाहिर है कि समाज का सम्पत्तिशाली हिस्सा ही था। धनी हिसानों और मज़दूर निर्वाचक मण्डल के प्रतिनिधियों को चुनने वाले कुछ मज़दूरों को भी मताधिकार दिया गया था। सरकारें अब उनके प्रति एक हद तक उत्तरदायी थीं, लेकिन वास्तविक सत्ता, निर्णय की वीटो पॉवर अभी भी वायसराय और गवर्नरों के ही हाथ में थी। ऐक्ट ने भारतीय पूँजीपतियों और भूस्वामियों को तथा उच्च मध्यवर्ग को विशेष रियायतें दी थीं, लेकिन इसका एक दूसरा लक्ष्य आन्दोलन में फूट डालना और पृथक निर्वाचक मण्डलों की व्यवस्था को मजबूत बनाकर साम्प्रदायिकता की राजनीति को आगे बढ़ाना भी था। राजाओं-रियासतों का प्रभाव बढ़ाकर औपनिवेशिक सत्ता के अवलम्बों को मज़बूत बनाना भी इसका एक मकसद था। केन्द्रीय विधान मण्डल में उनके प्रतिनिधियों को 1/3 और राज्य विधान परिषदों में 2/5 स्थान प्राप्त थे। इसका सबसे साज़िशाना पहलू इसके भीतर निहित देश के सम्भावित विभाजन की व्यवस्था भी थी। ऐक्ट तथाकथित "संघीय योजना" के तहत राजाओं को यह तय करने की छूट देता था कि वे ब्रिटिश साम्राज्य

(पेज 11 पर जारी)

संविधान

यह पुस्तक मर चुकी है
इसे न पढ़ें
इसके शब्दों में मौत की ठण्डक है
और एक-एक पृष्ठ
ज़िन्दगी के आखिरी पल जैसा भयानक
यह पुस्तक जब बनी थी
तो मैं एक पशु था
सोया हुआ पशु...
और जब मैं जागा
तो मेरे इंसान बनने तक
यह पुस्तक मर चुकी थी
अब यदि इस पुस्तक को पढ़ोगे
तो पशु बन जाओगे
सोये हुए पशु।

● पाश

इक्कीसवीं शताब्दी की पहली दशाब्दी के समापन के अवसर पर

अतीत का निचोड़ सामने है और भविष्य की तस्वीर भी!

मेहनतकश साथियो! निर्णायक बनो!
अपना ऐतिहासिक मिशन पूरा करने के लिए आगे बढ़ो!

वर्ष 2009 के बीतने के साथ ही इक्कीसवीं सदी का पहला दशक बीत चुका है। विगत दस वर्षों के दौरान पूरी दुनिया के पैमाने पर जो घटनाएँ घटी हैं, उन्होंने हमें बीसवीं शताब्दी के गुज़रे हुए समय को समझने में तथा आने वाले दिनों की सम्भावनाओं को, भविष्य के दिशा संकेतों को पहचानने में काफ़ी मदद की है। भविष्य की सूत्रधार ताक़तें अभी इतिहास के रंगमंच पर सक्रिय नहीं हुई हैं, लेकिन उनके अवतरण की ज़मीन जितनी तेज़ी से तैयार हो रही है, उसे देखकर कहा जा सकता है कि गुज़री हुई दशाब्दी में इतिहास की गति काफ़ी तेज़ रही है।

याद करें पिछली शताब्दी के आख़िरी दशक के उन शुरुआती वर्षों को, जब पूरी दुनिया में बस एक ही शोर था। चारों ओर समाजवाद की पराजय और मार्क्सवाद की असफलता की बातें हो रही थीं। पूँजीवादी सिद्धान्तकारों से लेकर दौ कौड़ी के टकसाली कलमघसीटों तक – सभी बस एक ही राग अलाप रहे थे। हालाँकि सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में जो झण्डा धूल में गिरा था, वह नकली समाजवाद का झण्डा था। वहाँ समाजवादी नक़ाब वाली राजकीय पूँजीवादी सत्ताओं का पतन हुआ था और उनका स्थान पश्चिमी ढंग की, खुली निजी स्वामित्व और प्रतिस्पर्द्धा वाली पूँजीवादी व्यवस्थाओं ने लिया था (इन देशों में वास्तविक समाजवाद तो वस्तुत: 1955-56 में ख्रुश्चेव के सत्तासीन होते ही पराजित हो चुका था)। उस समय थोड़े से बिखरे हुए क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट इस सच्चाई को सामने रख रहे थे और यह भी कह रहे थे कि 1955-56 में रूस और पूर्वी यूरोप में तथा 1976 में चीन में समाजवाद की जो पराजय हुई है, वह अन्तिम नहीं है। यह महज़ पहली सर्वहारा क्रान्तियों की हार है जिसकी शिक्षाएँ इन क्रान्तियों के नये संस्करणों की फ़ैसलाकुन जीत की ज़मीन तैयार करेंगी। यह श्रम और पूँजी के बीच जारी विश्व ऐतिहासिक समर का मात्र पहला चक्र है, अन्तिम नहीं। अतीत में भी निर्णायक ऐतिहासिक जीत से पहले विजेता वर्ग एकाधिक बार पराजित हुआ है। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने तब समाजवाद के अन्तर्गत जारी वर्ग संघर्ष, पूँजीवादी पुनर्स्थापना के अन्तर्निहित ख़तरों और चीन की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षाओं के आधार पर भविष्य में इन ख़तरों से लड़ने के बारे में भी बार-बार बातें की थीं। वे यह भी बताते रहे कि पूँजीवाद जिन कारणों से अपने भीतर से समाजवाद के बीज और उसके वाहक वर्ग को (अपनी क़ब्र खोदने वाले वर्ग को) पैदा करता है, वे बुनियादी कारण अभी भी मौजूद हैं। पर उस समय चारों ओर "अन्त-अन्त" का शोर था – समाजवाद का अन्त, मार्क्सवाद का अन्त, इतिहास का अन्त, विचारधारा का अन्त। वामपन्थी बुद्धिजीवी भी दिग्भ्रमित थे। मज़दूर वर्ग निराश था। क्रान्तिकारी वाम का जो हिस्सा चीज़ों को किसी हद तक जान-समझ रहा था, वह काफ़ी शक्तिहीन और निष्प्रभावी था। अलग-अलग भाषा में ज़्यादातर पूँजीवाद बुद्धिजीवी बस एक ही बात कर रहे थे – उदार पूँजीवादी जनवाद की फ़ैसलाकुन जीत की बात। उसके बाद पूरा एक दौर चला जब अख़बारों, किताबों और 'हिस्ट्री', 'डिस्कवरी' जैसे चैनलों पर दिखायी जाने वाली फिल्मों तक में बस रूस, चीन के समाजवादी दौर के बारे में, स्तालिन और माओ के बारे में तरह-तरह के घटिया कुत्सा-प्रचार किये जाते रहे तथा पश्चिमी पूँजीवादी समाज, संस्कृति, जीवनशैली और पूँजीवादी इतिहास को महिमामण्डित किया जाता रहा।

बीसवीं शताब्दी के आख़िरी दशक में पूँजीवादी विचारकों से लेकर कुछ किताबी मार्क्सवादियों तक ने यह कहना शुरू कर दिया था कि बाज़ार और वैश्विक लूट को लेकर साम्राज्यवादियों के बीच लगातार जारी होड़ (जो युद्धों को जन्म देती रहती है और जो युद्ध सर्वहारा क्रान्ति के लिए अनुकूल माहौल बनाते रहते हैं) अब समाप्त हो चुकी है और यह कि अमेरिकी चौधराहट में अब एकध्रुवीय विश्व अस्तित्व में आ चुका है। कहा जाने लगा कि आज के साम्राज्यवाद को "पूँजीवाद की चरम अवस्था" और "सर्वहारा क्रान्ति की पूर्वबेला" नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपनी क्रियाविधि में बदलाव करके अपने संकटों से निजात पाते रहने का नया मैकेनिज़्म इसने विकसित कर लिया है।

लेकिन नयी सदी शुरू होते-होते पूँजीवाद ख़ुशफ़हमियों पर आशंका के काले बादल मँडराने लगे। एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के जिन देशों ने साम्राज्यवादी महाप्रभुओं और आई.एम.एफ.-विश्व बैंक-गैट/विश्व व्यापार संगठन के निर्देशों-नुस्ख़ों पर अमल करते हुए उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को लागू किया था, वहाँ पहले ही पैदा हो चुका गम्भीर आर्थिक संकट नयी सदी में विस्फोटक रूप धारण करने लगा। तेज़ी से बढ़ती बेरोज़गारी, धनी-ग़रीब की खाई, छँटनी, मज़दूरों की सामाजिक सुरक्षा के क़ानूनी प्रावधानों की समाप्ति और रहे-सहे बुर्जुआ श्रम क़ानूनों को भी बेअसर किये जाने के चलते लोगों को यह बात समझ आने लगी कि नवउदारवाद वस्तुत: क्लासिकी पूँजीवादी नग्न-निरंकुश लूट-मार की फिर से वापसी है। बढ़ती महँगाई और खाद्यान्न संकट ने कई देशों में एक बार फिर खाद्य-दंगों का ख़तरा पैदा कर दिया। पूँजी निवेश के लिए देशी-विदेशी पूँजीपतियों को किसानों की ज़मीन कौड़ियों के मोल सौंपने और बहुमूल्य खनिजों की लूट के लिए जंगल-पहाड़ को तबाह करके वहाँ के मूल निवासियों को उजाड़ देने के चलते पूरी दुनिया में करोड़ों लोग विस्थापित हो गये। पर्यावरण की भयंकर तबाही हुई।

पूँजीवाद के जारी रहने का अर्थ है मानव सभ्यता का विनाश!
समाजवाद ही है मानवता का भविष्य!
यह "इतिहास का अन्त" नहीं, एक नयी शुरुआत है!
इक्कीसवीं सदी अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण के निर्माण की सदी है!

ब्राज़ील से लेकर भारत तक, नाइज़ीरिया से लेकर इण्डोनेशिया तक – सभी जगह, अल्पविकसित पूँजीवादी देशों की कमोबेश समान स्थिति थी। सूडान, सोमालिया से लेकर सब सहारा और कैरीबियन के कई देशों में तो "विफल राज्य" की स्थिति पैदा हो गयी। चीन और भारत जैसे जो देश ऊँची विकास दर के हवाले से तरक़्क़ी की ढोल बजा रहे हैं, वहाँ भी महँगाई, बेरोज़गारी और धनी-ग़रीब की तेज़ी से बढ़ती खाई समाज को ज्वालामुखी के दहाने की ओर धकेल रही है। समृद्धि के ऊपर से रिसकर नीचे पहुँचने के आर्थिक सिद्धान्त की असलियत को दावों के ठीक उलट हक़ीक़त ने नंगा कर दिया है। पूँजी की मार से सालाना लाखों का विस्थापन और दो दशकों में दो लाख किसानों की आत्महत्या, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि सभी बुनियादी सुविधाओं से आम मेहनतकश आबादी का वंचित होते जाना, अकूत खनिज सम्पदा पूँजीपतियों को सौंपने के लिए जंगल-पहाड़ की तबाही और वहाँ के आदिवासियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने जैसी स्थिति, बेहिसाब राजनीतिक भ्रष्टाचार और काले धन का समानान्तर अर्थतन्त्र, अनुत्पादक जुआड़ी पूँजीतन्त्र का तेज़ फैलाव, आदि-आदि...– जिन सच्चाइयों के साक्षी हम भारत में हो रहे हैं, वही स्थिति चीन, अर्जेण्टीना, ब्राज़ील, मेक्सिको, द. अफ़्रीका, नाइजीरिया, मिस्र आदि तीसरी दुनिया के अगली कतार के सभी देशों की है। पूर्वी यूरोप के जिन देशों को उदार पूँजीवादी "स्वर्ग" के सपने दिखाये गये थे, उनकी स्थिति भी कमोबेश ऐसी ही है। रूस तेल और गैस के भारी भण्डार की बदौलत अपने अर्थतन्त्र को अराजकता से निकालने के बाद साम्राज्यवादी होड़ में फिर से शामिल होने के लिए आतुर है, लेकिन देश के भीतर विषमता, भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी और महँगाई के चलते जनाक्रोश की स्थिति सुलगते ज्वालामुखी जैसी बनी हुई है। स्वयं अमेरिका और पश्चिमी यूरोपीय देशों की जनता भी नवउदारवादी नीतियों के कोप-कहर से अछूती नहीं बची है।

●

आर्थिक संकट के विस्फोट के जिस चरम-बिन्दु ने इक्कीसवीं सदी के पहले दशक का सर्वोपरि तौर पर चरित्र-निर्धारण किया है वह है 2006 में अमेरिका से शुरू हुई भीषण मन्दी जिसने जल्दी ही पूरी दुनिया को अपनी चपेट में ले लिया और, जिसे अब एक नयी महामन्दी निस्संकोच कहा जा सकता है। 1930 के दशक के बाद की यह सबसे बड़ी मन्दी है, जिसने अमेरिका से शुरू होकर पूरी दुनिया को अपने चपेट में ले लिया। अब तक, पूरब से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक करोड़ों मज़दूर इस मन्दी में अपना रोज़गार खो चुके हैं, लाखों छोटे निवेशक दिवालिया हो चुके हैं, हज़ारों बैंक तबाह हो चुके हैं, बहुतेरे देशों की अर्थव्यवस्थाएँ असमाधेयता के संकट के भँवर में फँसी हैं या फँसने के क़रीब हैं। तीसरी दुनिया के देशों की तो बात ही क्या, ग्रीस, स्पेन, इटली, पुर्तगाल जैसे कई यूरोपीय देशों में भी खाद्यान्न दंगे हो रहे हैं। पूरी दुनिया में पिछले दो दशकों के दौर में बेरोज़गारी और धनी-ग़रीब का अन्तर अभूतपूर्व रफ़्तार से बढ़े हैं। अमेरिका और फिर अधिकांश पूँजीवादी देशों की सरकारों ने सरकारी ख़ज़ाने से (जो जनता का पैसा है) अरबों-खरबों डॉलर की सहायता ("प्रोत्साहन पैकेज") कारख़ानेदारों-बैंकरों को देकर मन्दी के भूत से पीछा छुड़ाने की कोशिश की। इससे हालत में जो सुधार आये हैं (ग़ौरतलब है कि यह सुधार वास्तविक उत्पादक निवेश से नहीं, बल्कि सरकारी प्रोत्साहन-पैकेजों से आया है) उसे भी पूँजीवादी अर्थशास्त्री तक अस्थायी राहत बता रहे हैं और कुछ तो इसे नकली रिकवरी तक बता रहे हैं। कुछ की भविष्यवाणी है कि इस वर्ष या अगले वर्ष तक, विश्व पूँजीवाद को मन्दी की एक और तगड़ी मार झेलनी पड़ सकती है।

पीछे मुड़कर कई दशकों की वैश्विक आर्थिक विकास दरों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बीच के कुछ वर्षों की आंशिक रूप से बेहतर स्थिति के बावजूद, विकास दरों में गिरावट की रुझान कमोबेश 1970 के दशक से जारी है। 1987 में अमेरिकी अर्थतन्त्र को महाध्वंस (ग्रेट क्रैश) का जो झटका लगा, उसे रीगनॉमिक्स एक हद तक ही सँभाल पाया था। 1990 के दशक में पूर्व सोवियत संघ के घटक देशों, पूर्वी यूरोप और चीन के बाज़ारों का खुलना भी विश्व पूँजीवाद को कोई विशेष राहत नहीं दे पाया। 1997 के दक्षिण एशियाई संकट के बाद से अबतक विश्व पूँजीवाद पाँच बड़े संकटों का सामना कर चुका है। नयी सदी का पहला दशक सतत् मन्दी का दशक रहा है। महाबली अमेरिका पहले 'डॉट कॉम क्रैश', फिर हाउसिंग बुलबुले के फटने का शिकार हुआ और फिर सबप्राइम संकट शुरू हुआ जिसने पूरी दुनिया को अपने चपेट में ले लिया। कहा जा सकता है कि विगत चार दशकों से ही विश्व पूँजीवादी अर्थतन्त्र एक मन्द मन्दी की सतत् प्रक्रिया से गुज़रता रहा है। बीच-बीच में राहत के कुछ संकेत मिलते हैं, फिर गति मद्धम पड़ जाती है और फिर ऐसे दौर आते हैं जब संकट विस्फोटक रूप धर लेते हैं। इस प्रक्रिया का चरम दौर 2006 से शुरू हुए विश्वव्यापी आर्थिक संकट और विकट मन्दी का दौर है। अब यह बात विश्वासपूर्वक कही जा सकती है कि विश्व पूँजीवाद का वर्तमान संकट, पहले के, आवर्ती चक्रीय क्रम में आने वाले संकटों से भिन्न, एक ढाँचागत संकट है, जो लगातार जारी है और बीच-बीच में विस्फोटक रूप ले लेता है। यह विश्व पूँजीवाद का अन्तकारी रोग है। इतिहास ने बुद्धिजीवियों के तमाम मर्सियों को झुठलाते हुए मानव-मुक्ति की समाजवादी परियोजना की सार्थकता और उसके नवीकरण की ज़रूरत को एक बार फिर साबित किया है। इसने सिद्ध किया है कि तमाम बदलावों के बावजूद, साम्राज्यवादी बुढ़ापे को पूँजीवाद नौजवानी में नहीं बदल सकता। साम्राज्यवाद ही पूँजीवाद की चरम अवस्था है। अब यदि साम्राज्यवाद इतिहास की छाती पर बोझ की तरह, अपनी जड़ता की ताक़त से जमा हुआ है तो सिर्फ़ इसलिए कि सर्वहारा वर्ग अभी अपने ऐतिहासिक मिशन को अंजाम देने के लिए तैयार नहीं हो पाया है। लेकिन यह तो सिर्फ़ समय की बात है। सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश जनसमुदाय के सामने इतिहास की

(पेज 9 पर जारी)

अपना ऐतिहासिक मिशन पूरा करने के लिए आगे बढ़ो!

शिक्षाएँ हैं, विगत प्रयोगों के सकारात्मक-नकारात्मक अनुभव हैं, जो उसे इक्कीसवीं शताब्दियों की नयी क्रान्तियों की राह दिखा रहे हैं। यही वजह है कि पूँजीवादी विश्व को आज कम्युनिज़्म का हौवा फिर नये सिरे से सता रहा है। वह अपनी तमाम वैचारिक ताक़त लगाकर और मीडिया को सन्नद्ध करके वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों पर, सर्वहारा क्रान्तियों पर और उनके महान नेताओं पर हमले बोल रहा है, झूठे घिनौने प्रचारों और मिथ्याभासी तर्कों का घटाटोप रच रहा है, लेकिन आज के पूँजीवादी विश्व की मानवद्रोही कुरुपताएँ-विभीषिकाएँ आम लोगों को समाजवादी स्वप्न और परियोजना के पुनर्जीवन के लिए सतत् प्रेरित कर रही हैं।

●

पूँजीवाद के अमरत्व के साथ दावे यह भी किये जा रहे थे कि अब अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा तथा शीत युद्धों-उष्ण युद्धों का दौर समाप्त हो चुका है और अमेरिकी नेतृत्व में एक-ध्रुवीय विश्व का निर्माण हो चुका है। गुज़रे दशक ने इस आकलन को ग़लत सिद्ध किया है। दुनिया का सबसे बड़ा कर्ज़दार मुल्क होने के बावजूद अमेरिकी चौधराहट का मुख्य कारण डॉलर की विश्व मुद्रा जैसी स्थिति है। विश्व-व्यापार ज़्यादातर डॉलर में ही होता है और लगभग सभी देश अपने विदेशी मुद्रा भण्डार का पूरा या बड़ा हिस्सा डॉलर के रूप में ही रखते हैं, अत: डॉलर के डाँवाडोल होने पर सभी अर्थव्यवस्थाएँ डगमगा जाती हैं। लेकिन यह स्थिति चिरस्थायी नहीं है। कई देश अपने विदेशी मुद्रा भण्डारों को 'डाइवर्सिफ़ाई' करने (यानी कई मुद्राओं में विदेशी मुद्रा भण्डार रखने) की शुरुआत कर चुके हैं। नये-नये साम्राज्यवादी गुट, धुरी और समीकरण उभर रहे हैं। इनमें पश्चिमी देशों के साथ-साथ, रूस और चीन भी प्रभावी भूमिका निभा रहे हैं तथा भारत, ब्राज़ील, दक्षिण अफ़्रीका जैसे नये पूँजीवादी देश भी छुटभैयों के रूप में प्रभावी बन रहे हैं।

आर्थिक दायरों की ये सरगर्मियाँ नयी धुरियों के निर्माण और अन्तर-साम्राज्यवादी होड़ के नये दौर की शुरुआत का स्पष्ट संकेत दे रही हैं। इनकी राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ भी आनी शुरू हो चुकी हैं। जॉर्जिया, चेचेन्या और पूर्व युगोस्लाविया में ही नहीं, तीसरी दुनिया में मध्यपूर्व से अफ़्रीका तक – सभी जगह के राजनीतिक-सामरिक टकरावों में एक अन्तरविरोध यदि साम्राज्यवाद और उन देशों की जनता के बीच का है, तो सतह के नीचे दूसरा अन्तरविरोध साम्राज्यवादी ताक़तों के बीच का भी है। इराक़ और अफ़गानिस्तान में जो साम्राज्यवादी ताक़तें अमेरिका का साथ दे रही हैं, वे इन देशों में उलझाव से अमेरिका के बढ़ते आर्थिक संकट से खुश भी हैं, क्योंकि इससे भविष्य में अमेरिकी चौधराहट को प्रभावी चुनौती पेश करने में उन्हें मदद मिलेगी। रूस नये गुट का निर्माण करते हुए और दस वर्षों में अपने तेल-गेस आधारित अर्थतन्त्र को तकनोलॉजी-आधारित अर्थतन्त्र बनाने की योजना पर काम करते हुए नयी आक्रामकता के साथ प्रतिस्पर्द्धा में उतरा है, जिसकी सामरिक अभिव्यक्तियाँ भी नयी सैन्य तैयारियों और अमेरिका से नये सिरे से सामरिक अस्त्रों की होड़ के रूप में सामने आ रही हैं। शीतयुद्ध के एक नये दौर के आग़ाज़ के संकेत फिर से से मिलने लगे हैं।

●

अमेरिका की अजेय सैन्य शक्तिमत्ता के मिथक का ध्वस्त होना पिछले दशक की एक और प्रमुख प्रवृत्तिमूलक घटना रही है। जनसंहार के हथियारों और अलक़ायदा नेटवर्क को मदद पहुँचाने का आरोप लगाते हुए, इराक़ पर हमला करके उसकी अकूत तेल-सम्पदा पर कब्ज़ा करने के लिए उसने जो युद्ध छेड़ा, वह अपने मक़सद में पूरी तरह से नाकामयाब रहा। इराक़ी प्रतिरोधी दस्तों की छापामार कार्रवाइयों के चलते तेल निकालकर मुनाफ़ा कूटने के सपने धरे के धरे रह गये। उल्टे युद्ध के भारी ख़र्च ने अमेरिकी अर्थतन्त्र पर गम्भीर प्रभाव डाला। इराक से अमेरिकी हवाई अड्डों पर लगातार उतरते ताबूत और लौटते हुए घायल सैनिकों ने अमेरिकी जनसमुदाय में युद्ध-विरोधी व्यापक लहर पैदा कर दी है। जो यूरोपीय देश तेल की बन्दरबाँट की शर्त पर इराक़ में अमेरिका का साथ दे रहे थे, उन्होंने मामला उल्टा पड़ते देख हाथ पीछे खींच लिया और अमेरिकी पराजय का इन्तज़ार करने लगे। अमेरिका की रणनीतिक हार तो वास्तव में हो चुकी है। अब वह किसी तरह से बाहर निकलने के रास्ते ढूँढ़ रहा है। अफ़गानिस्तान में भी वह इतनी ही बुरी तरह फँस चुका है। अमेरिका और ब्रिटेन के कई जनरल स्वीकार कर चुके हैं कि यह लड़ाई जीती नहीं जा सकती।

उधर, फिलिस्तीनी जनता का प्रतिरोध-संघर्ष पी.एल.ए. नेतृत्व की ग़द्दारी के बाद भी जारी है और अप्रतिरोध्य बना हुआ है। अमेरिकी समर्थन से जिस इस्रायल ने 1967 में कई अरब देशों को एक साथ शिकस्त दी थी, उसकी सेना को लेबनान में हिज़्बुल्ला के लड़ाकों ने पीछे हटने के लिए मजबूर कर दिया।

मध्य-पूर्व और अफ़ग़ानिस्तान में अमेरिकी उलझाव का एक नतीज़ा यह सामने आया है कि उसके ऐन पिछवाड़े, लातिन अमेरिका से उसे चुनौती मिलने लगी है। पहले लातिन अमेरिकी देशों में थोड़ी भी राजनीतिक आज़ादी दिखाने वाली सत्ता के विरुद्ध अमेरिका द्वारा सैनिक विद्रोह कराकर किसी कठपुतली तानाशाह को बैठा देना आम बात होती थी। अब वेनेज़ुएला और बोलीविया जैसे देश क्यूबा के साथ मिलकर गुट बनाकर अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जमकर आवाज़ उठा रहे हैं। ह्यूगो शावेज़ और इवो मोरालेस की सत्ताएँ निश्चय ही समाजवादी सत्ताएँ नहीं हैं, लेकिन अमेरिका-विरोधी गहरी घृणा के चलते व्यापक जनसमर्थन उनके साथ है और ये सत्ताएँ कुछ रैडिकल किस्म की जनकल्याणकारी नीतियों को लागू करते हुए नवउदारवादी भूमण्डलीय प्रोजेक्ट को भी चुनौती दे रही हैं। अन्य लातिनी देश जो इतने रैडिकल नहीं हैं, वहाँ की बुर्जुआ या सामाजिक जनवादी सत्ताएँ भी अपनी राजनीतिक आज़ादी का खुलकर प्रदर्शन कर रही हैं। कुछ छोटे-छोटे मध्य अमेरिकी देशों को छोड़कर लातिनी अमेरिका में सैनिक जुण्टाओं और कठपुतली सरकारों का दौर समाप्त हो चुका है।

विश्व पूँजीवाद के संकट असाध्य ढाँचागत हैं,
इसके रोग अन्तकारी हैं!
अब पूँजी और श्रम के बीच विश्व ऐतिहासिक महासमर का जो नया चक्र शुरू होगा, वह निर्णायक होगा!

●

नयी सदी के गुज़रे दशक में एक और महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिघटना देखने में आई है। एशिया और अफ़्रीका के बहुतेरे देशों में राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष क्रान्तिकारी ढंग से चले थे, लेकिन सत्तासीन होने के बाद वहाँ के बुर्जुआ वर्ग ने पूँजीवादी नीतियों को लागू करते हुए साम्राज्यवाद के साथ समझौते का रास्ता चुना था। लगभग इन सभी शासकों ने 1990 के दशक में नवउदारवादी नीतियों पर अमल की शुरुआत की। इन सभी देशों में बुर्जुआ शासन ज़्यादा से ज़्यादा भ्रष्ट और निरंकुश होता चला गया है तथा बुर्जुआ जनवाद का तेज़ी से क्षरण-विघटन हुआ है। अब इनमें से कई देशों की जनता नवउदारवादी नीतियों का विरोध करती हुई, साम्राज्यवाद के साथ-साथ देशी बुर्जुआ वर्ग का भी जमकर विरोध कर रही है। यह स्थिति केन्या, द. अफ़्रीका और ज़िम्बाब्वे आदि कई अफ़्रीकी देशों से लेकर ईरान तक में है, जहाँ की जनता अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ-साथ अब अहमदीनेजाद की निरंकुश सत्ता का भी पुरज़ोर विरोध कर रही है। ये परिस्थितियाँ इक्कीसवीं सदी की उन नयी क्रान्तियों की वर्ग-लामबन्दी को दर्शा रही हैं, जिनका चरित्र मूलत: साम्राज्यवाद विरोधी पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति का होगा। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक में, अधिकांश उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के कार्यभार मुख्यत: छूटे हुए थे। अब आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ बताती हैं कि मुख्यत: वे पूरे हो चुके हैं, पहली बार उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में पूँजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध प्रधान बनकर सामने आया है और एक नये प्रकार की समाजवादी क्रान्ति की ज़मीन तैयार हुई है। इक्कीसवीं सदी की विश्व सर्वहारा क्रान्ति की नयी आम लाइन इन परिस्थितियों के सांगोपांग अध्ययन के बाद ही तैयार की जा सकती है।

●

रूस में, उक्रेन में और पूर्व सोवियत संघ के कई घटक देशों में नवउदारवादी नीतियों और भ्रष्ट निरंकुश सत्ताओं के विरुद्ध जनाक्रोश गहराता जा रहा है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें से कई देशों में (संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टियों से अलग) कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन मौजूद हैं जो स्तालिन तक की विरासत को स्वीकार करते हैं और ख्रुश्चेवी संशोधनवाद को ख़ारिज करते हैं। चीन में "बाज़ार समाजवाद" के विरुद्ध किसानों-मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त विद्रोहों के अनवरत सिलसिले की ख़बरें तो 1990 के दशक से ही लगातार आती रही हैं। इधर ऐसी सूचनाएँ भी छनकर बाहर आयी हैं कि वहाँ माओ और सांस्कृतिक क्रान्ति की विरासत को मानने वाले माओवादी ग्रुप भी जगह-जगह जनता के बीच सक्रिय हैं। पूँजीवादी पथगामियों की असलियत नंगी होने के साथ-साथ नयी पीढ़ी तक में माओ और सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर के बारे में उत्सुकता पैदा हुई है। इन समाजवादी देशों की जनता समाजवादी प्रयोगों की साक्षी रह चुकी है। अब पूँजीवादी लूटमार-भ्रष्टाचार-दमन का नज़ारा उनके सामने है। बढ़ते संकट और गहराते अन्तरविरोधों के साथ इन देशों में अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण के पुनर्निर्माण की ज़मीन तैयार होने लगी है।

●

कार्ल मार्क्स ने डेढ़ सौ वर्ष पहले कहा था कि पूँजीवाद मुनाफ़े की अंधी हवस में मनुष्य के साथ ही प्रकृति को भी निचोड़कर तबाह कर रहा है। गत शताब्दी के आख़िरी तीन दशकों के दौरान पर्यावरण की तबाही – कारख़ानों से नदियों के प्रदूषण, पूँजीवादी खेती में जहरीले कीटनाशकों-रसायनों के अन्धाधुन्ध इस्तेमाल से मिट्टी और भूमिगत जल की तबाही, स्वास्थ्य पर पड़ने वाले गम्भीर प्रभावों, जंगलों की कटाई, रेगिस्तानों के विस्तार, इंसानी कारणों से बाढ़ व सूखे की बढ़ोत्तरी, ग्लोबल वार्मिंग, ग्लेशियरों के पिघलने, ओज़ोन परत में छेद होने से घातक विकिरण के ख़तरों आदि पर लगातार चर्चा होती रही। कुछ ऐसे भी लोग थे, जो तकनीक एवं उद्योगों को ही विनाश का कारण मानते हुए पीछे की ओर लौटने का नारा दे रहे थे। कुछ पर्यावरणवादी इसी व्यवस्था में पर्यावण-विनाश की समस्या का समाधान ढूँढ़ते हुए सरकारों से अपील कर रहे थे, तो कुछ जनता से नदियों की सफ़ाई, ऊर्जा की बचत, ऑर्गेनिक खेती की अपील कर रहे थे। फिर मुख्यत: गत शताब्दी के अन्तिम दशक के दौरान, कई पुस्तकों और निबन्धों ने विस्तृत तथ्यों और तर्कों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि पर्यावरण के भयंकर विनाश का बुनियादी कारण पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली है। पूँजीवाद कोई एकाश्मी व्यवस्था नहीं है। कच्चे मालों का अन्धाधुन्ध दोहन करते हुए, मुनाफ़ा कूटने के लिए बिना सामाजिक ज़रूरत के बेशुमार कारों और विलासिता के अनगिन सामानों का उत्पादन करते हुए, भूमिगत जल निकालते हुए, मिट्टी में ज़हरीले रसायन झोंकते हुए, नदियाँ ज़हरीली बनाते हुए, एक-दूसरे से गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा करते पूँजीपति ओज़ोन लेयर के छेद के बारे में, ग्लोबल वार्मिंग के बारे में, भविष्य में पृथ्वी के मनुष्य के नहीं रहने लायक़ बन जाने के बारे में एक साथ मिलकर नहीं सोच सकते। जो सोचेगा, वह दौड़ से बाहर हो जायेगा। पूँजीपति सिर्फ़ अपने आज के मुनाफ़े की सोचता है और ठीक नाक के आगे देखता है। उनमें कभी किसी प्रश्न पर आम सहमति नहीं बन पाती। पूँजीवादी व्यवस्था के दूरगामी हित के बारे में सोचने वाले नेता और थिंक टैंक ज़रूर कुछ 'डैमेज कण्ट्रोल' के क़दमों की बात करते हैं, पर पूँजीवाद के रहते अब महज़ कुछ 'डैमेज कण्ट्रोल' के क़दमों से पर्यावरण को नहीं बचाया जा सकता। पिछले दशक में पर्यावरण-विनाश के जो तथ्य सामने आये हैं, उन्होंने साबित कर दिया है कि पूँजीवाद के रहते पर्यावरण की तबाही को रोक पाना मुमकिन नहीं है। कोपेनहेगन सम्मेलन की विफलता ने भी इस सच्चाई पर ही ठप्पा लगाया है। उपाय सिर्फ़ यह है कि मुनाफ़े के लिए अन्धाधुन्ध अराजक उत्पादन और अन्धाधुन्ध मुनाफ़े की अन्धी होड़ की व्यवस्था को ही समाप्त कर दिया जाये। यानी उत्पादन मुनाफ़े के लिए न हो, नियोजित ढंग से सामाजिक आवश्यकताओं के लिए हो। यह तभी हो सकता है जब उत्पादन के साधनों के निजी मालिकाने को समाप्त कर दिया जाये और उत्पादन एवं विनिमय की समाजीकृत प्रणाली क़ायम की जाये, जिसपर आम जनसमुदाय का नियन्त्रण हो। तब तकनीक के सहारे समाज प्रकृति प्रदत्त चीज़ों से उपयोग लायक़ चीज़ें बनायेगा और इस प्रक्रिया में प्रकृति में यदि कोई असन्तुलन पैदा होगा तो तकनीक के सहारे ही उसे दुरुस्त करने का भी काम करेगा। सीधे-सादे शब्दों में कहा जा सकता है कि पर्यावरण को पूँजीवाद तबाह कर रहा है और दुनिया को बचाने का एकमात्र रास्ता यही है कि जनक्रान्तियों के द्वारा पूँजीवाद को तबाह करके समाजवादी मुक्ति-परियोजनाओं को अमली जामा पहनाया जाये।

●

पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में जब उदारीकरण-निजीकरण मुहिम के नतीजों के ख़िलाफ़ पश्चिमी देशों का मज़दूर आत्मरक्षात्मक ढंग से उठ खड़ा हुआ और पुराने ट्रेड-यूनियन आन्दोलन में एक बार फिर कुछ प्राण संचार होता दीखा तो कुछ वाम बुद्धिजीवियों को इससे काफ़ी उम्मीदें दीखने लगीं। लेकिन गुज़रे दशक ने एक

(पेज 2 पर जारी)

प्रधानमन्त्री महोदय! आँकड़ों की बाज़ीगरी से ग़रीबी नहीं घटती!

(पेज 1 से आगे)

घट रही है। 1979 से, जब योजना आयोग द्वारा ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की गणना शुरू हुई, अब तक ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की संख्या करीब 52 प्रतिशत से घटकर 28 प्रतिशत तक आ चुकी है! हर 5 वर्ष बाद योजना आयोग के अर्थशास्त्री बैठकर ग़रीबी को कम दिखाने के लिए राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़ों में गोते लगाते हैं और हर बार वे यह दिखलाने में सफल रहते हैं कि ग़रीबी कम हो रही है। लेकिन हम अपने जीवन के अनुभव से जानते हैं कि यह दावा खोखला है और झूठों और लफ़्फ़ाज़ियों पर आधारित है। आइये देखते हैं कि शासक वर्गों के टुकड़ों पर पलने वाले योजना आयोग के अर्थशास्त्री आँकड़ों के साथ कैसा खिलवाड़ करते हैं!

पहली बात, जब 1973-74 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़ों को आधार बनाकर ग़रीबी रेखा तय की जा रही थी, तो यह मानकर चला गया था कि शिक्षा और स्वास्थ्य के ख़र्चों को ग़रीबी रेखा की गणना में नहीं जोड़ा जायेगा क्योंकि शिक्षा और स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी राज्य उठायेगा। लेकिन हम सभी जानते हैं कि ऐसा 1973-74 में भी नहीं था और आज तो ऐसा और भी नहीं है। सरकारी अस्पतालों के नाम पर ग़रीबों को जो चिकित्सा सुविधा हासिल है वह मरते आदमी को बचाती कम है, उसे जल्द से जल्द श्मशान घाट अधिक भेजती है! और यह सरकारी सुविधा भी लगातार महँगी हुई है। सर्वशिक्षा अभियान और ऐसे तमाम अभियानों के नाम पर जो नि:शुल्क शिक्षा देने की बात की जाती है, वह न तो आसानी से उपलब्ध है और अगर मिल भी गयी तो वैसी शिक्षा का मिलना न मिलना एकसमान है। इसलिए जिस शर्त पर ग़रीबी रेखा की गणना में शिक्षा और चिकित्सा को नहीं शामिल किया गया था, वह शर्त न तो 1970 के दशक में ही पूरी होती थी, और न ही आज पूरी होती है। उस समय ग़रीबी रेखा को इस रूप में परिभाषित किया गया था: शहर में जो भी परिवार 2100 कैलोरी प्रति व्यक्ति से अधिक का उपभोग कर रहा है, वह ग़रीबी रेखा के ऊपर माना जायेगा और गाँव में जो भी परिवार 2400 कैलोरी प्रति व्यक्ति से अधिक का उपभोग कर रहा है उसे ग़रीबी रेखा से ऊपर माना जायेगा। यानी, जो इतना खाना खा ले रहा है कि शहर में 2100 कैलोरी और गाँव में 2400 कैलोरी तक हासिल कर ले रहा है, वह ग़रीब नहीं है। यह पैमाना इतना हास्यास्पद है कि इसके बारे में क्या कहा जाय! जाहिर सी बात है कि कोई व्यक्ति खाना खायेगा तो उसे पकाकर ही खायेगा; पकायेगा तो उसे ईंधन की भी ज़रूरत होगी लेकिन ग़रीबी रेखा की गणना में ईंधन का ख़र्च नहीं जोड़ा जाता! खाना खाने के बाद वह कहीं न कहीं रहेगा भी और कुछ पहनेगा भी! लेकिन शासक वर्गों के लिए ग़रीबों का बेघर और नंगा होना सामान्य और अपेक्षित है! इसलिए कपड़े और मकान के किराये के ख़र्च को भी ग़रीबी रेखा की गणना में नहीं जोड़ा गया। एक हालिया सर्वेक्षण बताता है कि आज ग़रीबों की कुल आय का 75 से 80 फ़ीसदी हिस्सा ईंधन, जूते, रिहायश और कपड़े पर ख़र्च होता है। इसी से पता चलता है कि यह ग़रीबी रेखा बिल्कुल अतार्किक और वास्तविक ग़रीबी को छिपाने के लिए बनायी गयी है। मेहनतकश ग़रीब को यह सत्ता इंसान ही नहीं मानती। वह उसके लिए मुनाफ़ा पैदा करने के एक यन्त्र से अधिक कुछ भी नहीं है। 2400 कैलोरी और 2100 कैलोरी का पैमाना तय करने के पीछे भी यही अमानवीय धारणा काम कर रही थी। एक शहरी मज़दूर को काम करने के योग्य होने के लिए 2100 कैलोरी और एक खेतिहर मज़दूर को काम करने के योग्य होने के लिए 2400 कैलोरी प्रतिदिन उपभोग करने की आवश्यकता होती है। यानी, जो जी-मर के पूँजीपतियों के लिए काम करने लायक हो जाये, वह ग़रीब नहीं माना जाता! सोचने की बात है कि इतना भी न मिले तब तो इंसान अस्वस्थ, कुपोषित और अक्षम की श्रेणी में आयेगा। इसलिए मौजूदा ग़रीबी रेखा वास्तव में ग़रीबी रेखा नहीं है बल्कि कुपोषण रेखा है; या इसे भुखमरी रेखा कहें तो ज़्यादा सटीक होगा।

दूसरी बात, ग़रीबी के नये आँकड़े तैयार करने के लिए योजना आयोग के और अन्य सरकारी प्रतिष्ठानों के अर्थशास्त्री जो धोखाधड़ी करते हैं, उसके लिए तो उनपर चार सौ बीसी का मुक़दमा चलाया जाना चाहिए! जी हाँ, हम बात को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं पेश कर रहे हैं! वाक़ई उन पर चार सौ बीसी का मुक़दमा चलाया जाना चाहिए। ग़रीबी के नये आँकड़ों की गणना करने के लिए अर्थशास्त्री 1973-74 के वर्ष को आधार वर्ष बनाते हैं। उस समय के उपभोग की न्यूनतम मात्रा की तुलना नये उपभोक्ता कीमत सूचकांकों से कर दी जाती है। यानी कि आज के उपभोग का कोई सीधा प्रत्यक्ष मूल्यांकन नहीं किया जाता, बल्कि 1973-74 के उपभोग स्तर का समायोजन आज के उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक से कर दिया जाता है, जिसके कारण ग़रीबी रेखा बेहद नीचे आती है। मिसाल के तौर पर, नयी ग़रीबी रेखा के अनुसार जिस परिवार की प्रति व्यक्ति आय गाँवों में रुपये 356.30 प्रतिमाह होगी और शहरों में रुपये 538. 60 प्रतिमाह होगी, वह ग़रीबी रेखा के ऊपर माना जायेगा! यानी कि गाँव में जिसकी आय रुपये 11. 87 प्रतिदिन होगी वह ग़रीब नहीं माना जायेगा और शहर में जिसकी आय रुपये 17.95 प्रतिदिन होगी वह ग़रीब नहीं माना जायेगा! यह इस देश के मेहनतकश अवाम के साथ एक भद्दा मज़ाक है। और जब ग़रीबी रेखा इतनी मज़ाकिया है, तब इस देश 28 प्रतिशत लोग ग़रीबी रेखा के नीचे रहते हैं। यह अपने आप में इस देश में ग़रीबी की विकरालता को बयान करता है। ग़रीबी रेखा का आधार कैलोरी उपभोग को माना गया है इसलिए हर सर्वेक्षण में सरकारी एजेंसियों को कैलोरी उपभोग की नये सिरे से गणना करके यह तय करना चाहिए कि आज गाँवों में 2400 कैलोरी और शहरों में 2100 कैलोरी का उपभोग करने के लिए कितनी औसत पारिवारिक आय होनी चाहिए। लेकिन सरकारी एजेंसियाँ करती यह हैं कि आज के उपभोग स्तर की गणना किये बग़ैर 1973-74 के उपभोग स्तर को आय में बदलकर उस आय की तुलना मौजूदा उपभोक्ता सूचकांकों से कर देती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि ग़रीबी रेखा के लिए अब न्यूनतम कैलोरी उपभोग 2400 या 2100 कैलोरी रह ही नहीं जाता। अगर किसी ग्रामीण परिवार की प्रति व्यक्ति मासिक आय मात्र रुपये 356.30 हो तो उसका हर सदस्य प्रतिदिन महज़ 1890 कैलोरी का उपभोग कर सकता है, जो न्यूनतम पैमाने से 500 कैलोरी से भी ज़्यादा कम है। वहीं अगर कोई शहरी परिवार रुपये 538.60 प्रतिमाह की प्रति व्यक्ति आय पर बसर करता है तो उसका हर सदस्य प्रतिदिन मात्र 1875 कैलोरी का उपभोग कर सकता है जो कि न्यूनतम कैलोरी उपभोग पैमाने से लगभग 225 कैलोरी कम है। यानी, कि यह ग़रीबी नहीं है जो नीचे आ रही है, बल्कि ग़रीबी रेखा है जिसे नीचे खिसका-खिसका कर हर पाँच साल पर सरकार इस देश की जनता को बताती है कि ग़रीबी कम हो रही है। हर बार अगर न्यूनतम कैलोरी उपभोग की गणना कर उसे आय में बदलकर न देखा जाय तो आँकड़ों को तोड़-मरोड़कर ग़रीबी को मनमाने ढंग से कम दिखाया जा सकता है। इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण की कल्पना कीजिये। मान लीजिये कि आप टेलीविजन पर ऊँची कूद का खेल देख रहे हैं। आप देखते हैं कि पहली बार कूदते समय खिलाड़ी बार से टकरा जाता है। दूसरी बार कूदते समय वह बार से 2 इंच ऊँचा कूदता है। तीसरी बार कूदते वक्त वह बार से 4 इंच ऊँचा कूदता है। देखने पर लगता है कि वह खिलाड़ी हर बार अधिक ऊँचा कूद रहा है। लेकिन अगर सच्चाई यह हो कि बार को पहली कूद के बाद 4 इंच नीचे कर दिया गया और दूसरी कूद के बाद 4 इंच और नीचे कर दिया गया, जो कि टेलीविज़न पर आपको नहीं दिखाया गया तो सच्चाई क्या हुई? क्या वह खिलाड़ी हर बार 2 इंच ऊँचा कूद रहा है? नहीं! वह हर बार 2 इंच नीचा कूद रहा है, क्योंकि हर बार कूद को मापने वाले पैमाने को ही 4 इंच नीचा कर दिया जाता है! ग़रीबी का मामला भी कुछ ऐसा ही है। अगर हर बार ग़रीबी रेखा को ही नीचे खिसका दिया जाय तो जाहिर है कि ग़रीबी कम होती नज़र आयेगी। अगर 1974 में ग़रीबी रेखा के ऊपर होने के लिए न्यूनतम कैलोरी उपभोग 2400/2100 कैलोरी था तो आज इसे घटाकर 1890/1875 कैलोरी कर दिया गया है। इसीलिए आँकड़ों में ग़रीबी कम नज़र आती है, लेकिन वास्तव में वह बढ़ रही है।

तीसरी बात, कैलोरी उपभोग को हर बार सीधे जोड़कर रुपयों में तब्दील करने के अतिरिक्त, मात्र कैलोरी उपभोग को ही ग़रीबी रेखा का पैमाना माना जायेगा तो निश्चित तौर पर ग़रीबी ठहरी हुई या कम होती हुई प्रतीत हो सकती है, या इसे ऐसा प्रतीत कराया जा सकता है। अगर कैलोरी उपभोग का रिश्ता हर बार इस बात से क़ायम नहीं किया जाता कि पोषण के मायने में उतनी कैलोरी के उपभोग का नतीजा क्या हो रहा है तो ग़रीबी रेखा अर्थहीन हो जायेगी। देश में यदि कुपोषण और भुखमरी बढ़ रही है, तो जाहिर है कि देश की मेहनतकश ग़रीब जनता को पोषण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल रहा है। संयुक्त राष्ट्र के मानव विकास सूचकांक में भारत का स्थान 182 देशों में से 134वाँ है। ज्ञात हो कि यह 2005 में 128वाँ था। हर वर्ष भारत में बढ़ती भुखमरी और कुपोषण के कारण मानव विकास के मामले में वह उप-सहारा के देशों से भी पीछे छूटता जा रहा है। अफ़गानिस्तान, चाड, अंगोला और बुरुण्डी में भी प्रति व्यक्ति पोषण भारत के मुकाबले ज़्यादा है! मानव दरिद्रता सूचकांक में 135 देशों में भारत का स्थान 88वाँ है। ज्ञात हो कि पिछले सर्वेक्षण में भारत का 155 देशों में 52वाँ स्थान था। ऐसे सर्वेक्षण जो पोषण, रिहायश और अन्य मानवीय आवश्यकताओं की क़ीमत को ग़रीबी की गणना में शामिल करते हैं, वे साफ़ तौर पर बता रहे हैं कि भारत में ग़रीबी बढ़ने की रफ़्तार भयंकर है। और ख़ास तौर पर पिछले 20 वर्षों में यह सबसे तेज़ी से बढ़ी है। मनमोहन सिंह के मनमौजी दावों से ग़रीबी की सच्चाई नहीं छिप सकती है! सरकारी आँकड़ों का ही ईमानदारी से विश्लेषण करें तो पता चलता है कि आज जिस आय को सरकार गरीबी रेखा के रूप में परिभाषित करती है, उस आय पर कोई भी परिवार गरीबी रेखा के रूप में परिभाषित न्यूनतम कैलोरी उपभोग की शर्त को पूरा नहीं कर सकता।

चौथी बात, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़े बताते हैं कि प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग देश में नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद लगातार घटा है। जहाँ 1993-94 में गाँवों में प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग 13.4 किलोग्राम प्रति माह था, वहीं 2006-07 में यह घटकर 11.7 किलोग्राम प्रति माह रह गया। शहरों में 1993-94 में प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग 10.6 किलोग्राम प्रति माह था जो 2006-07 में घटकर 9.6 किलोग्राम प्रति माह रह गया। इसका कारण यह है कि नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से जीवन तेज़ी से महँगा होता गया है। इंसान सिर्फ़ खाकर तो नहीं जियेगा। अन्य बुनियादी सुविधाएँ लगातार महँगी होते जाने से अनाज उपभोग पर ख़र्च कम होता गया है जिसके कारण अनाज उपभोग कम होता गया है। दूसरी बात यह कि अनाज भी इतना महँगा होता गया है कि उसके उपभोग के पुराने स्तर को क़ायम रख पाना मेहनतकश आबादी के लिए सम्भव नहीं रह गया है।

पाँचवी बात, ग़रीबी रेखा तय करते समय दो और कारकों को उचित रूप से शामिल नहीं किया जाता। ये कारक हैं मुद्रास्फ़ीति और वास्तविक मज़दूरी में कमी। कई सरकारी अर्थशास्त्री दावा कर सकते हैं कि उपभोक्ता कीमत सूचकांक की गणना में इन कारकों का विश्लेषण शामिल होता है। लेकिन हम सभी जानते हैं कि इन्हीं सूचकांकों के अनुसार महँगाई पिछले कुछ महीनों से कम हो रही है, लेकिन ज्यों ही आप किसी पंसारी की दुकान, सब्ज़ी मण्डी या बाज़ार जाते हैं तो आपको पता चल जाता है कि महँगाई कम नहीं हो रही है, बल्कि लगातार बढ़ रही है, और पहले से भी तेज़ रफ़्तार से। इसका कारण यह है कि थोक मूल्यों के अनुसार उपभोक्ता कीमत सूचकांकों की जो गणना की जाती है, वह अपने आप में अधूरी और ग़लत है। वास्तव में, आम बुनियादी आवश्यकताओं की वस्तुओं की खुदरा कीमतों में बढ़ोत्तरी लगातार जारी है। खाद्य मुद्रास्फ़ीति के भी कम होने के दावे किये जा रहे हैं लेकिन अगर खुदरा बाज़ार मूल्यों पर निगाह डालें तो दाल, चावल, तेल, चीनी, सब्ज़ियाँ, दूध आदि सभी लगातार आम मेहनतकश जनता की जेब की पहुँच से बाहर होते जा रहे हैं। मुद्रास्फ़ीति के कारण होता यह है कि रकम के मायने में मज़दूरी बढ़ती नज़र आती है लेकिन मुद्रा के मूल्य में ही सरकार स्फ़ीति (रुपये के मूल्य में कमी) करती जाती है, जिससे कि मुद्रा की क्रय शक्ति वास्तव में घट जाती है। इससे मज़दूरी अगर रुपयों में बढ़े भी, तो वास्तव में कम हो जाती है। क्योंकि मुद्रा के पुराने मूल्य पर आप 100 रुपये में जितना ख़रीद सकते थे, मुद्रा के अवमूल्यन के बाद आप 200 रुपये में भी उतना नहीं ख़रीद सकते। अगर रुपये के मूल्य में 50 प्रतिशत की गिरावट आती है तो आपकी आय को 25 प्रतिशत बढ़ा भी दिया जाये तो आप पहले के मुकाबले 25 प्रतिशत ज़्यादा ग़रीब हो गये। अगर ग़रीबी रेखा की प्रत्यक्ष तुलना मुद्रास्फ़ीति और वास्तविक मज़दूरी में कमी से नहीं की जाती तो निश्चित रूप से वह ग़रीबी रेखा एक साज़िशाना ग़रीबी रेखा होगी जिसका मकसद इस व्यवस्था के अपराधों को छिपाना होगा। और यही पूँजीपति वर्ग और मनमोहन सिंह, चिदम्बरम, प्रणब मुखर्जी जैसे उसके मुनीमों का काम है!

अब आइये, ज़रा देखें कि वास्तविक आँकड़े क्या बताते हैं। अभी अगर हम सरकार की ही तरह सिर्फ़ कैलोरी उपभोग को ही एकमात्र पैमाना मानें तो आज के उपभोक्ता कीमत सूचकांकों से समायोजित करने पर 2400 कैलोरी/2100 कैलोरी के उपभोग के लिए जितनी औसत प्रति व्यक्ति आय की आवश्यकता होगी, उसके मुताबिक देश की करीब 80 प्रतिशत ग्रामीण आबादी और 60 प्रतिशत शहरी आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे है। लेकिन हम पहले ही दिखला चुके हैं कि महज़ 2400 कैलोरी देने वाले भोजन को ग़रीबी रेखा का पैमाना बनाना अपने आप में कोई मतलब नहीं रखता। क्योंकि वह खाना आसमान से नहीं टपकेगा। उसे कोई भी मेहनतकश परिवार ख़रीदकर लायेगा, पकायेगा और तब खायेगा। इस लिए ईंधन का ख़र्च भी ग़रीबी रेखा में जोड़ा जाना चाहिए। खाना आदमी तभी खायेगा जब वह जीवित रहेगा, और जीवित रहने के लिए कम से कम उसके बदन पर कपड़ा और सिर पर छत होनी चाहिए। अगर जीवित रहने के लिए न्यूनतम कपड़े और रिहायश के लिए न्यूनतम किराये को ग़रीबी रेखा में नहीं जोड़ा जाता, तो फ़िर वह ग़रीबी रेखा कहलाने के योग्य ही नहीं है। भारतीय संविधान ने माना है कि शिक्षा एक सम्पूर्ण मानवीय जीवन के लिए अनिवार्य है और इसीलिए 14 वर्ष तक की अनिवार्य शिक्षा को राज्य की ज़िम्मेदारी और जनता का हक़ माना गया है। अगर राज्य नि:शुल्क शिक्षा की कारगर और व्यावहारिक व्यवस्था नहीं करता तो शिक्षा के ख़र्च को भी ग़रीबी रेखा के गणना में शामिल किया जाना चाहिए। साथ ही, गुणवत्ता वाली चिकित्सा सेवा ग़रीब जनता के लिए जीने के अधिकार के समान है। मेहनतकश आबादी के काम और रिहायश की जगहें ही ऐसी हैं जो उनके स्वास्थ्य को सबसे अधिक अरक्षित बनाती हैं और ग़रीबों की एक अच्छी-ख़ासी तादाद उन बीमारियों से अच्छी चिकित्सा सुविधाओं के अभाव में हर दिन मरती है, जिनका इलाज दशकों पहले निकाला जा चुका है। नतीजतन, चिकित्सा

(पेज 11 पर जारी)

पंजाब की फिज़ा में ज़हर घोल रही हैं साम्प्रदायिक शक्तियाँ

पिछली सदी के आखिरी दो दशकों के दौरान पंजाब की जनता सरकारी और ख़ालिस्तानी आतंकवाद की चक्की में पिसती रही थी। उस समय जब "धर्मयुद्ध" लड़ रहे खालिस्तानी आतंकवादी दिन-दिहाड़े बेगुनाह लोगों को ए.के. 47 की गोलियों से भून रहे थे तभी वर्दी वाले आतंकवादी बेगुनाह नौजवानों को फ़र्ज़ी मुठभेड़ों का शिकार बना रहे थे। उस समय धर्म गुरुओं, बुर्जुआ राजनीतिक पार्टियों ने अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिए डेढ़ दशक तक पंजाब को आग में झोंके रखा और आज फिर ये शक्तियाँ पंजाब की फिज़ा में जहर घोलने का प्रयास कर रही हैं। 5 दिसम्बर को लुधियाना की सड़कों पर साम्प्रदायिक कट्टरपन्थियों के हाथों में चमकती, लहराती तलवारें सम्भावित ख़तरों की ओर इशारा कर रही हैं।

5-6 दिसम्बर को लुधियाना में दिव्य ज्योति जागृति संस्थान द्वारा धार्मिक समागम किया जाना था। लेकिन दल खालसा, खालसा ऐक्शन कमेटी, सन्त समाज आदि साम्प्रदायिक जुनूनियों ने ऐलान कर दिया कि वे यह समागम नहीं होने देंगे। 5 दिसम्बर को इन संगठनों के नेतृत्व में नंगी तलवारें लेकर एक हुजूम लुधियाना की सड़कों पर उतर आया। पुलिस ने इन्हें इकट्ठा होने से रोकने के लिए कोई कोशिश तक नहीं की। इनके दबाव की वजह से दिव्य ज्योति जागृति संस्थान का 6 दिसम्बर का समागम नहीं हो सका।

दरअसल, दल खालसा, खालसा एक्शन कमेटी, सन्त समाज, दलजीत बिट्टू का अकाली दल आदि तथाकथित सिख संगठन पिछले कई वर्षों से पंजाब में साम्प्रदायिक जुनून भड़काने का प्रयास कर रहे हैं। ये संगठन पंजाब की बहुसंख्यक सिख आबादी की धार्मिक भावनायें भड़काकर अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंक रहे हैं। पिछले ढाई तीन वर्षों से डेरा सच्चा सौदा सिरसा के अनुयायियों को भी लगातार डरा-धमकाकर डेरे से दूर करने की कोशिश हो रही है। जगह-जगह इन कट्टरपन्थियों द्वारा डेरा सच्चा सौदा के अनुयायियों को अपने समागम करने से रोका जा रहा है। ये कट्टरपन्थी कभी डेरा सच्चा सौदा और कभी आशुतोष महाराज के अनुयायियों पर अपने फ़ासीवादी फ़रमान थोप रहे हैं। यह दरअसल पंजाब के लोगों की धार्मिक आज़ादी पर हमला है।

हम न तो डेरा सच्चा सौदा के हिमायती हैं और न ही दिव्य ज्योति के और न ही इन साम्प्रदायिक जुनूनियों के। दरअसल ये सभी संगठन, डेरे, जनता के पिछड़ेपन, उनमें बड़े स्तर पर फैले अन्धविश्वासों का फ़ायदा उठाकर करोड़ों के कारोबार चला रहे हैं। जिस डेरे या धर्म के अनुयायी अधिक होंगे उसका कारोबार भी उतना ही फैलेगा। जब लोग एक धर्म की दुकान से धर्म की दूसरी दुकान की तरफ़ पलायन करते हैं तो एक का कारोबार फलता-फूलता है और दूसरे को घाटा होता है। यही इनके बीच झगड़े की मुख्य वजह है।

किसी धर्म या डेरे में श्रद्धा की वजह लोगों का पिछड़ापन या अन्धविश्वास भले ही हो लेकिन आस्था का प्रश्न हर नागरिक का निजी मामला है। किसी को भी ज़बरदस्ती किसी धर्म या डेरे का अनुयायी बनने से रोकना, उनको अपने धार्मिक समागम करने से तलवार के दम पर रोकना एक फ़ासीवादी क़दम है। यह लोगों के धार्मिक चुनाव के जनवादी अधिकार पर हमला है। यही आज कट्टरपन्थी सिख संगठन कर रहे हैं। इन अर्थों में ये हिटलर, मुसोलिनी और उनके मिनी संस्करण नरेन्द्र मोदी के नक्शेक़दम पर चल रहे हैं। पंजाब के मेहनतकश लोगों को धर्म के नाम पर बाँटने की इन साम्प्रदायिक कट्टरपन्थियों की कोशिश और उन्हें अपने ही भाई-बहनों के ख़िलाफ़ लड़ाने की कोशिशों का पुरज़ोर विरोध किया जाना चाहिए। पंजाब के मेहनतकश लोगों (जिनमें पंजाब में दूसरे राज्यों से आकर काम कर रहे मज़दूर भी शामिल हैं) के वास्तविक मुद्दे तो रोज़ी-रोटी के सवाल हैं। कमरतोड़ महँगाई से निजात पाना है, ग़रीबी- भुखमरी से निजात हासिल करने के लिए श्रम के लुटेरों के ख़िलाफ़ डटना है। सिख कट्टरपन्थी संगठनों के पास पंजाब के मेहनतकश लोगों की असल समस्याओं का कोई समाधान नहीं है। दरअसल यह मसले पंजाब के 90 फ़ीसदी ग़रीब लोगों के हैं, इन साम्प्रदायिक कट्टरपन्थियों के नहीं। ये भी तो मालिक वर्गों, सेठों, पूँजीपतियों, बड़े भूमिपतियों आदि द्वारा मेहनतकश लोगों के श्रम की लूट में हिस्सा लेते हैं। ये बिना कोई काम किये ऐयाशी भरी जिन्दगी जीते हैं। किसी भी नये मॉडल की कार जब बाज़ार में आती है तो सबसे पहले इन बाबाओं के पास ही पहुँचती है। इनकी ऐयाशियों के ढेरों क़िस्से हैं।

इन बाबाओं, धर्म गुरुओं को राजनीतिक शह भी प्राप्त है। बदले में बाबा भी चुनावों के दौरान राजनीतिज्ञों की मदद करते हैं। सिख कट्टरपन्थियों को बादल सरकार की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शह मिलती है जबकि सिरसा वालों, आशुतोष को कांग्रेस और भाजपा का आशीर्वाद प्राप्त है। इन बाबाओं, साम्प्रदायिक कट्टरपन्थियों और पूँजीवादी राजनीतिज्ञों का गठबंधन पंजाब के मेहनतकश का ख़ून बहाने की जी-तोड़ कोशिशें कर रहा है, ज़रूरत है इनके असल मंसूबों को पहचानने की और लोगों के बीच इनका ख़ूनी चेहरा नंगा करने की।

– सुखदेव

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 7 से आगे)

में रहना चाहेंगे या इससे स्वतन्त्र सम्बन्ध बनाना चाहेंगे। यह ऐक्ट 'डोमीनियन स्टेटस' तक के बारे में पूरी तरह मौन था। संयुक्त संसदीय समिति के अध्यक्ष और 1936 से वायसराय के आकलन से इस ऐक्ट का मकसद एकदम साफ़ हो जाता है। उनके अनुसार, ऐक्ट को ऐसा इसलिए बनाया गया था कि "उनकी दृष्टि में भारत में ब्रिटिश प्रभाव को बनाये रखने का वही सर्वोत्तम उपाय था। मैं समझता हूँ कि ...हमारी नीति में ...कहीं भी यह बात नहीं कि भारतीयों को नियंत्रण सौंपने की गति को अनावश्यक रूप से उस गति की तुलना में बढ़ाया जाये, जिसे, हम, दीर्घकालीक दृष्टि से भारत को साम्राज्य से जोड़े रखने के लिए सर्वोत्तम समझते हैं।"

इस ऐक्ट को "गुलामी के शासन विधान' की संज्ञा देते हुए पूरे देश में इसका व्यापक विरोध हुआ। कांग्रेस की राजनीति के दोहरे चरित्र के समझने के लिए उसके उस दौर के राजनीतिक व्यवहार को समझना जरूरी है। कांग्रेस ने 1935 के ऐक्ट का पुरज़ोर विरोध किया। उसने सार्विक वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के केन्द्रीय नारे की हिमायत की। आगे 1946 में संविधान के गठन के समय जो हुआ, उसमें कांग्रेस के विश्वासघात को समझने के लिए इस बात को याद रखना ज़रूरी है कि नेहरू और कांग्रेस का "वाम धड़ा" 1930 के दशक में लगातार सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के चुनाव की माँग कर रहे थे। लखनऊ और फ़ैज़पुर अधिवेशनों (अप्रैल-दिसम्बर 1936) में नेहरू ने इस माँग को केन्द्रीय नारा बनाने की हिमायत की थी। लखनऊ अधिवेशन में तो उन्होंने यहाँ तक कहा था कि ऐसा केवल "अर्द्धक्रान्तिकारी स्थिति में ही हो पायेगा" और इसके लिए कांग्रेस को एक वास्तविक 'साम्राज्यवाद विरोधी जन मोर्चा' बनाना होगा। उस दौर में बिड़ला, ठाकुरदास, वालचन्द आदि पूँजीपतियों के आपसी पत्र व्यवहार का सुमित सरकार व अन्य कई इतिहासकारों ने अध्ययन करके दर्शाया है कि अग्रणी भारतीय पूँजीपतियों को नेहरू को पटरी पर रखने की महात्माजी की योग्यता पर पूरा भरोसा था। वे जानते थे कि कांग्रेस के दक्षिणपंथी तत्व नेहरू के समाजवाद की काट करते रहेंगे और गाँधी इसमें सन्तुलनकारी भूमिका निभाते रहेंगे। नेहरू की "सदाशयता" पर और सत्ता में आने पर "सन्तुलित" आचरण पर भी उन्हें पूरा भरोसा था और वे यह भी जानते थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों-मज़दूरों और रैडिकल मध्यवर्ग को साथ बनाये रखने के लिए नेहरू के रैडिकल तेवर और समाजवादी लफ्फ़ाजी उनके लिए बड़े काम की चीज़ है! (क्रमशः)

– आलोक रंजन

(अगले अंक में : 1946 में कैसे हुआ संविधान सभा का चुनाव? कैसे किया कांग्रेस ने ऐतिहासिक विश्वासघात? कैसे बना भारत का संविधान? अम्बेडकर की भूमिका। संविधान और क़ानून व्यवस्था की अन्दरूनी हक़ीक़त। भारत के बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की नंगी-काली सच्चाइयाँ...)

प्रधानमन्त्री महोदय! आँकड़ों की बाज़ीगरी से ग़रीबी नहीं घटती!

(पेज 10 से आगे)

के ख़र्च को भी ग़रीबी रेखा के आकलन में शामिल किया जाना चाहिए। ये तो कुछ न्यूनतम आवश्यक कारक हैं जिन्हें ग़रीबी रेखा निर्धारित करने में शामिल किया ही जाना चाहिए। अगर इन्हें ग़रीबी रेखा के आकलन में शामिल नहीं किया जाता और सिर्फ़ कैलोरी उपभोग के आधार पर ग़रीबी रेखा को परिभाषित किया जाता है, तो वह वास्तव में ग़रीबी रेखा नहीं है बल्कि 'भुखमरी रेखा' है। और आज 28 प्रतिशत से भी ज़्यादा भारतीय भुखमरी रेखा के नीचे जी रहे हैं, न कि ग़रीबी रेखा के नीचे। ग़रीबी रेखा को सही तरीके से परिभाषित किया जाय तो देश 80 फ़ीसदी आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे जी रही है। यह है ग़रीबी की सच्चाई। और नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से इस संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है न कि कमी।

●

ज़ाहिर है कि शासक वर्गों के राजनीतिज्ञों का यह काम होता है कि वे पूँजीवाद के अपराधों पर पर्दा डालें या फ़िर आँकड़ों और तथ्यों की हेराफ़ेरी से उन्हें कम करके दिखायें। हम मनमोहन सिंह जैसे लोगों से और कोई उम्मीद रख भी नहीं सकते। यही मनमोहन सिंह हैं जिनके वित्त मन्त्री बनने के बाद नयी आर्थिक नीतियों का श्रीगणेश 1991 में हुआ था। इसके बाद बनने वाली हर सरकार के कार्यकाल में उदारीकरण और निजीकरण की नयी आर्थिक नीतियों को ज़ोर-शोर से जारी रखा गया। स्वदेशी का ढोल बजाने वाली और राष्ट्रवाद की पिपहरी बजाने वाली भाजपा नीत राजग सरकार के कार्यकाल में तो जनता की सम्पत्ति को पूँजीवादी लुटेरों को बेच डालने के लिए एक अलग मन्त्रालय ही बना दिया गया था। उससे पहले संयुक्त मोर्चा सरकार ने भी, जिसमें देश के कुछ संसदीय वामपंथी शामिल थे और कुछ बाहर से समर्थन दे रहे थे, अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश को तेज़ी से बढ़ावा दिया था। इसके बाद, 2004 में तो मनमोहन सिंह प्रधानमन्त्री के रूप में वापस लौटे। उम्मीद की ही जा सकती थी कि इन नीतियों के सूत्रधार मनमोहन सिंह और अधिक परिष्कृत रूप में उन्हें जारी रखेंगे।

यही हुआ भी। एक ओर राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी योजना और अन्य कल्याणकारी योजनाओं की शुरुआत की गयी, और दूसरी ओर विशेष आर्थिक क्षेत्रों के लिए खेती योग्य भूमि का अधिग्रहण, सार्वजनिक उपक्रमों को बेचा जाना, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को बढ़ावा देकर देश के श्रम को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और देशी पूँजीपतियों की लूट के लिए खुला चरागाह बना देना, श्रम क़ानूनों को एक-एक करके ढीला करते जाना, शुरू कर दिया गया। नरेगा जैसी नीतियाँ सिर्फ़ एक 'सेफ़्टी वॉल्व' का काम करती हैं और भूखे मरते लोगों की विशाल संख्या में से एक छोटे-से हिस्से को अधभुखमरी की कगार पर लाकर खड़ा कर देती हैं। इससे और कुछ तो नहीं होता लेकिन इस व्यवस्था के बारे में एक भ्रम आम जनता के मन में भी बैठ जाता है। ऐसी किसी भी योजना से वास्तविक स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं आ सकता। नरेगा एक दूसरा काम यह भी कर रही है कि यह ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर उजड़े खेतिहर मज़दूरों, ग़रीब किसानों और ग्रामीण गैर-खेतिहर मज़दूरों के पलायन की रफ़्तार को थोड़ा कम कर रही है। इससे शहरों पर दबाव थोड़ा कम हो रहा है और शहरी असन्तोष को नियन्त्रित करने में मदद मिल रही है जो इस व्यवस्था के लिए बेहद ख़तरनाक साबित हो सकता है। अब सामाजिक सुरक्षा योजना और खाद्य सुरक्षा योजना की भी बात की जा रही है। जाहिर है, कि सत्ता में बैठे पूँजीवाद के कुशल हकीम और मुनीम जनता को भ्रमित करने वाली योजनाओं को बनाने में व्यस्त हैं। वे जानते हैं कि बदस्तूर बढ़ती पूँजीवादी लूट के समक्ष कुछ मामूली पैबन्दनुमा राहतें जनता के सामने नहीं फ़ेंकी जायेंगी तो स्थितियाँ विस्फोटक हो सकती हैं। स्थितियों को ख़तरनाक दिशा में जाने से रोकने के लिए ही आँकड़ों की बाज़ीगरी भी की जाती है ताकि जनता को बताया जा सके कि 'देखो! ग़रीबी कम हो रही है! थोड़ा धैर्य धरो! ज्यादा नाराज़ होने की ज़रूरत नहीं है। हमारी नीतियाँ बिल्कुल दुरुस्त हैं!'

लेकिन वे यह कहावत भूल जाते हैं - 'हाथ कंगन को आरसी क्या, पढ़े-लिखे को फ़ारसी क्या'। ग़रीब मेहनतकश को अपनी ग़रीबी को समझने के लिए सरकारी आँकड़े और मनमोहन की 'मनमोहिनी बातें' सुनने की आवश्यकता नहीं है। वे अपनी ज़िन्दगी से जानते हैं कि उनकी ज़िन्दगी हर बीतते दिन के साथ बद से बदतर होती जा रही है। बढ़ती महँगाई से उनकी पूरी आजीविका ही चरमरा चुकी है। वे अपने बच्चों को शिक्षा और चिकित्सा तो दूर, दो वक़्त का खाना तक मुहैया नहीं करा पाते। बीमार हो जाने की सूरत में वे अपने लोगों को दवा-इलाज के अभाव में तड़पता-मरता देख सकते हैं, बस! ऐसे में ज़िन्दगी और मौत के अहसास के बीच जो बारीक़-सी रेखा होती है, वह धुँधली पड़ने लगती है। अपनी ग़रीबी को इस देश की 80 करोड़ मज़दूरों और ग़रीब किसानों की आबादी अपने अनुभव से जानती है।

पूँजीवादी व्यवस्था इस देश के मेहनतकश अवाम को यही दे सकती है - भूख, ग़रीबी, कुपोषण, बेरोज़गारी, अपमान और अन्याय। इस सच्चाई को आँकड़ों के झीने परदे से ढँकने की सारी कोशिशें बेकार हैं। आज़ादी के बाद के छह दशक हमारे सामने इस तथ्य को बिल्कुल अकाट्य रूप से स्थापित कर चुके हैं कि यह आज़ादी, यह व्यवस्था हम मेहनतकशों की नहीं है। पूरी व्यवस्था और उसमें बैठे लोगों का काम है पूँजीपतियों की चाकरी करना और इस बात की गारण्टी करना कि वे बिना रोक-टोक हमारी हड्डियों और शिराओं से अपना मुनाफ़ा निचोड़ते रह सकें। हमारी ग़रीबी और बदहाल ज़िन्दगी का समाधान हर पाँच साल पर इन पूँजीपतियों के लिए नीतियाँ बनाने और लागू करने वाली किसी नयी प्रबन्धन समिति का चुनाव करने से नहीं हो सकता है। पिछले 62 वर्षों में, हम सभी को चुनकर और आज़माकर देख चुके हैं। **हमारी आने वाली पीढ़ियाँ एक बेहतर मानवीय जीवन जी सकें, इसकी गारण्टी सिर्फ़ एक ही है - मेहनतकशों की इंक़लाबी पार्टी के नेतृत्व में, मेहनतकश वर्गों द्वारा पूँजीवादी सत्ता का ख़ात्मा और मेहनतकशों के लोक स्वराज्य की स्थापना! लोक स्वराज्य - जिसमें उत्पादन, राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले लोगों का हक़ होगा और फ़ैसला लेने की ताक़त उनके हाथों में होगी!**

दिल्ली के बादाम मज़दूरों की 16 दिन लम्बी हड़ताल

(पेज 3 से आगे)

शोहराय बिन्द के इशारे पर मालिकों के कुछ गुण्डों ने यूनियन के कुणाल, प्रेमप्रकाश और गौरव पर हमला कर दिया। शोहराय बिन्द ने मालिकों को समझा रखा था कि यूनियन के नेतृत्व के कुछ लोगों की पिटाई कर दी जाय तो सारा मामला ठण्डा पड़ जायेगा। लेकिन, इस हमले की ख़बर मिलते ही सैकड़ों की संख्या में महिला मज़दूर वहाँ एकत्र हो गयीं और उन्होंने आत्मरक्षा में पथराव शुरू कर दिया। गुण्डों को पीछे धकेल दिया गया और कुछ वहाँ से भाग खड़े हुए। इसी समय यूनियन के संयोजक आशीष ने वहाँ पहुँचकर स्थिति को सम्भाला। इस घटना के बाद मालिकों और उनके गुण्डों के सामने यह साफ़ हो चुका था कि इस हड़ताल को गुण्डागर्दी के बल पर नहीं तोड़ा जा सकता। हालाँकि, इस घटना के बाद यूनियन के संयोजक आशीष, कुणाल और प्रेमप्रकाश को पुलिस ने गिरफ़्तार करके दो दिनों के लिए जेल भेज दिया, जबकि गुण्डों और मालिकों को छोड़ दिया गया। लेकिन, इससे मज़दूरों का उत्साह गिरने की बजाय और मज़बूत हो गया। 19 तारीख की रात को यूनियन के तीनों लोग रिहा हो गये और मज़दूरों ने हड़ताल स्थल पर उनका गर्मजोशी से स्वागत किया।

इसके बाद यूनियन के नेतृत्व में मज़दूरों ने और अधिक आक्रामक रूप से हड़ताल को फैलाने का काम शुरू कर दिया। 20 तारीख तक 25 प्रतिशत मज़दूर ऐसे थे जो हड़ताल में शामिल नहीं थे। इनमें से अधिकांश मज़दूर उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल के मज़दूर थे। इन मज़दूरों के बीच हड़ताल को लागू करवाने के लिए महिला मज़दूरों ने समझाने-बुझाने का रास्ता अपनाया। इन मज़दूरों को हड़ताली मज़दूरों के दस्ते लगातार समझाने-बुझाने के काम में लगे रहे। हड़ताली मज़दूर आबादी अधिकांशत: बिहार से थी और उस इलाक़े में यह अन्तर लम्बे समय से काम करता रहा है। इस हड़ताल के दौरान यह अन्तर अगर पूरी तरह से मिटा नहीं तो कम ज़रूर हुआ। इस समझाने-बुझाने की प्रक्रिया के फलस्वरूप 23-24 तारीख तक उत्तर प्रदेश के मज़दूरों का एक हिस्सा हड़ताल में शामिल हो गया। मालिकों की साज़िश थी कि किसी तरह से बिहारी और उत्तर प्रदेश के मज़दूरों के बीच मारपीट या झगड़ा हो जाये। लेकिन बिहार के मज़दूरों के समझाने-बुझाने के रुख़ के कारण यह साज़िश कामयाब नहीं हो पाई। लेकिन अभी भी 15 प्रतिशत मज़दूर काम पर जा रहे थे जिसके कारण मालिकों पर दबाव थोड़ा ही सही, लेकिन कम हो रहा था। काफ़ी विचार-विमर्श के बाद यूनियन ने यह फ़ैसला किया कि मज़दूरों को समझाने के साथ अब यह करना होगा कि महिला मज़दूर उन गोदामों के सामने जाम लगा दें और उन्हें चलने ही न दें। अगर गोदाम ही बन्द हो जायेंगे तो बचे-खुचे मज़दूर स्वयं ही हड़ताल में शामिल हो जायेंगे। यह तरकीब काम कर गयी और 26 दिसम्बर तक सभी गोदाम बन्द हो चुके थे। इसके लिए यूनियन ने क़ानूनी रास्ता भी अख़्तियार किया। पुलिस स्टेशन में लगातार यह शिकायतें की गयीं कि ये गोदाम अवैध और गैर-क़ानूनी तौर पर चल रहे हैं। इसके कारण कुछ गोदामों को पुलिस को दबाव के कारण बन्द करवाना पड़ा। इस बीच यूनियन ने करीब 1000 मज़दूरों को लेकर जन्तर-मन्तर पर एक विशाल प्रदर्शन करके दिल्ली की सरकार और पूरे समाज तक भी अपनी आवाज़ पहुँचाई।

विस्तार और ठहराव

26 दिसम्बर से लेकर 30 दिसम्बर तक हड़ताल लगभग 100 प्रतिशत सफलता के साथ चलती रही। खारी बावली में हड़कम्प मच गया था क्योंकि अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया से संसाधन के लिए आये बादाम के बोरे उनके पास डम्प पड़े थे और उनका अम्बार लग रहा था। वे लगातार करावलनगर के ठेकेदारों पर हड़ताल का हल निकालने का दबाव डाल रहे थे। इस बीच यूनियन नेतृत्व और मज़दूरों के बीच एक वार्ता भी हुई लेकिन वह सफल नहीं हो सकी। इस हड़ताल का फायदा उठाते हुए नरेला और सन्तनगर-बुराड़ी में चलने वाले इने-गिने गोदामों के मज़दूर अधिक मज़दूरी भी वसूल रहे थे। लेकिन ये चन्द गोदाम काम करते भी रहते तो दबाव पर कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ने वाला था। अखबारों में जल्दी ही रिपोर्टें आने लगीं कि बादाम मज़दूरों की हड़ताल के कारण करीब 40 करोड़ रुपये का नुकसान हो चुका है। हड़ताल के दौरान ही बादाम की बाज़ार दरों में करीब 20 रुपये की बढ़ोत्तरी हो चुकी थी। एक तरफ़ ठेकेदारों पर दबाव बढ़ रहा था तो दूसरी तरफ़ मज़दूरों के लिए भी यह हड़ताल अब काफ़ी लम्बी हो चुकी थी।

हड़ताल शुरू होने से पहले मज़दूरों और यूनियन नेतृत्व का यह मूल्यांकन बना रहा था कि अगर तेज़ी के सीज़न में 6 दिनों तक सफल हड़ताल चल गयी तो मालिक झुक जायेंगे। लेकिन यह मालिकों को कम करके आँकना था। मालिकों को थोड़ा झुकाने में 15 दिन ख़र्च हो गये थे। 29 से 30 तारीख के दौरान जितने छोटे मालिक थे वे यूनियन के नेतृत्व से सम्पर्क करने लगे थे। वे कई माँगों पर झुकने के लिए तैयार थे। लेकिन बड़े मालिक अभी और लड़ने का मूड बना चुके थे। हालाँकि वे काफ़ी नुकसान झेल रहे थे, लेकिन वे जानते थे कि अगर बा.म.यू. के नेतृत्व में यह हड़ताल सफल हो गयी तो सवाल एक बार हारने का नहीं रह जायेगा। आगे लम्बे समय के लिए मज़दूरों का पलड़ा भारी हो जायेगा और राजनीतिक तौर पर बा.म.यू. हमेशा के लिए हावी हो जायेगी। ज्ञात हो कि करीब 40 ठेकेदारों में से आधे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ या भारतीय जनता पार्टी से जुड़े हुए हैं और बाकी ठेकेदार भी कांग्रेस या बसपा के करीब हैं। ऐसे में हड़ताल इनके लिए एक राजनीतिक प्रतिष्ठा का प्रश्न भी बन गयी थी। छोटे मालिकों के लिए तो स्थिति तबाह होने की बन रही थी और कई छोटे मालिक 29 दिसम्बर को ही समझौते के लिए तैयार हो चुके थे। लेकिन बड़े मालिकों के अड़ने के कारण कोई समझौता नहीं हो पा रहा था। इधर मज़दूरों के लिए भी अब इस हड़ताल को लम्बा खींच पाना बहुत मुश्किल था। बादाम मज़दूर रोज़ कमाकर खाने वाले मज़दूर हैं। उन्होंने हड़ताल की तैयारी हफ़्ते-दस दिन के हिसाब से तो की थी, लेकिन अब हड़ताल 15 दिन चल चुकी थी और तत्काल समझौता होने के आसार भी नज़र नहीं आ रहे थे। नतीजतन, यह साफ़ हो चुका था कि अब मालिकों के सामने हर शर्त पर अड़ना सम्भव नहीं होगा। मालिकों का पक्ष लगातार कह रहा था कि वह प्रति बोरा मज़दूरी को 60 रुपये करने के लिए तैयार है। लेकिन छिलका मुफ्त देने को मालिक तैयार नहीं थे। हर बार जब मज़दूरी बढ़ती है तो छिलके का रेट भी बढ़ता है। लेकिन मालिक इस बात पर राज़ी थे कि इस बार मज़दूरी बढ़ने पर छिलके की दर नहीं बढ़ाई जायेगी।

जन्तर-मन्तर पर बादाम मज़दूर यूनियन का प्रदर्शन

समझौता और समापन

31 दिसम्बर की शाम को यूनियन नेतृत्व और मालिक पक्ष के बीच वार्ता हुई जिसमें यूनियन की तरफ से आशीष, अभिनव, रामप्रीत, पटेल और बिपत ने हिस्सा लिया। इस वार्ता में समझौता हुआ और मज़दूरी 60 रुपये प्रति बोरा और छिलका 20 रुपये प्रति बोरा तय हुआ। महीने के पहले सप्ताह में भुगतान के लिए मालिक राज़ी हो गये। लेकिन कोई पहचान पत्र देने के लिए मालिक तैयार नहीं थे क्योंकि उनका कहना था कि यह पूरा उद्योग ही बिना किसी लाईसेंस या सरकारी मान्यता के चल रहा है इसलिए कोई भी लिखित पहचान पत्र आदि देना उनके लिए सम्भव नहीं है। इस पर यूनियन नेतृत्व ने इस मसले को आगे के लिए टाल दिया।

इस समझौते के साथ दिल्ली के बादाम मज़दूरों की यह ऐतिहासिक हड़ताल एक आंशिक विजय के साथ समाप्त हुई। यह आंशिक विजय भी आज के दौर में एक बड़ी विजय थी। हड़ताल के ये 16 दिन पूरे करावलनगर इलाक़े के लिए यादग़ार थे। पूरे इलाक़े का नज़ारा ही बदल गया था। मंगल बाज़ार का प्रकाश विहार का चौराहा अब 'हड़ताल चौक' बन चुका था। हड़ताल चौक सुबह से रात तक मज़दूरों से खचाखच भरा रहता था। मज़दूर अपने परिवारों समेत वहाँ जमे रहते थे। पुलिस द्वारा हड़ताल का टेण्ट उखाड़े जाने के बाद करीब ढाई हज़ार मज़दूरों ने हड़ताल चौक पर रास्ता जाम कर दिया और पुलिस के अधिकारियों तक को वहाँ आना पड़ा। इसके बाद भी मज़दूर वहीं डटे रहे। 25 दिसम्बर के बाद पुलिस ने तय कर लिया था कि अब इस मसले में वह हाथ नहीं डालेगी। इसका कारण यह था कि ये गोदाम गैर-क़ानूनी तौर पर पुलिस को घूस खिलाकर इस इलाक़े में चलते हैं। ऐसे में अगर पुलिस से मज़दूरों के टकराव की कोई बड़ी घटना होती तो यह आगे करावलनगर पुलिस के लिए मुश्किल पैदा कर सकती थी। यूनियन के नेताओं को गिरफ्तार करने का एक बार पुलिस ने प्रयास किया तो सैकड़ों महिला मज़दूरों ने पुलिस पर हल्ला बोल दिया। नतीजतन, पुलिस को वहाँ से पीछे हटना पड़ा। बीच में महिला मज़दूरों ने एक बड़े गोदाम मालिक की पिटाई भी कर दी। इस गोदाम मालिक वासुदेव मिश्रा ने एक महिला मज़दूर पर हमला किया तो जवाब में महिला मज़दूरों ने उसकी पिटाई कर दी। इस पिटाई के बाद से मालिकों में मज़दूरों की दहशत घर कर गयी। कहीं भी मालिक मज़दूरों से उलझने की ज़रा भी कोशिश नहीं कर रहे थे। महिला मज़दूरों के हड़ताली दस्तों के गली में प्रवेश के साथ ही मालिक आम तौर पर ग़ायब हो जाते थे। यह उन मज़दूरों के लिए बहुत बड़ी बात थी जिनके साथ गोदामों के भीतर रोज़ बदसलूकी की जाती थी। मज़दूरों की वर्ग शक्ति के स्थापित और प्रतिष्ठित होने की नज़र से यह पिटाई प्रतीक घटना थी। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था, जब मज़दूरों ने मालिकों की हिंसा का आक्रामक तरीके से जवाब दिया हो। मालिक वर्ग और पुलिस प्रशासन, दोनों के सामने ही यह स्पष्ट हो चुका था कि बल प्रयोग या हिंसा से मज़दूरों के इतने बड़े हुजूम को कुचल पाना सम्भव नहीं है। मज़दूरों को भी वर्ग और उसके शासन के नुमाइन्दों - दोनों से ही निपटने का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया।

हड़ताल के समापन के बाद बादाम मज़दूर यूनियन की ओर से एक समाहार पर्चा निकाला गया और फिर से घर-घर जाकर यूनियन के कार्यकर्ताओं ने इस हड़ताल के सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों को मज़दूरों तक पहुँचाया और आगे अपनी पुरानी ग़लतियों से बचने और सकारात्मक पक्षों को जारी रखने का सन्देश पहुँचाया।

हड़ताल का निचोड़

सकारात्मक शिक्षण

इस हड़ताल का सबसे बड़ा सकारात्मक यह था कि असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को संगठित करने और इतने बड़े पैमाने पर उनके संघर्ष को 16 दिनों तक संगठित रूप में चलाने का यह अपने आप में अनोखा प्रयोग था। दिल्ली के मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में असंगठित मज़दूर इतनी बड़ी संख्या में कभी संगठित नहीं हुए थे। इससे पहले संगठित मज़दूरों की बड़ी हड़ताल 1988 में हुई थी, लेकिन वह कोई इलाक़ा – आधाारित हड़ताल नहीं थी। वह पेशा-आधारित हड़ताल थी, जो चमड़ा मज़दूरों की लाल झण्डा यूनियन (सीटू से सम्बद्ध) के नेतृत्व में शुरू हुई थी।

यह हड़ताल मज़दूरों की भागीदारी के मामले में 1988 की हड़ताल से बड़ी थी और साथ ही यह गुणात्मक रूप से उस हड़ताल से अलग थी। यह एक पूरे इलाक़े के मज़दूरों की एक इलाक़ाई यूनियन के नेतृत्व में हुई हड़ताल थी। वास्तव में, इस हड़ताल का प्रभाव अन्य उद्योगों पर भी पड़ने लगा था। महिला मज़दूरों के पति आम तौर पर गाँधीनगर और ट्रॉनिका सिटी जैसे करीब के औद्योगिक क्षेत्रों में काम करते हैं। हड़ताल के दौरान उन्होंने काम पर जाना बन्द कर दिया था और अपनी पत्नियों के साथ हड़ताल चौक पर ही जम गये थे। नतीजा यह हुआ था कि उन उद्योगों में भी दिक़्क़त पैदा होने लगी थी, जिनमें ये पुरुष मज़दूर काम करते थे। यह करावलनगर के प्रकाश विहार, भगतसिंह कॉलोनी और पश्चिमी करावलनगर के मज़दूरों की हड़ताल में तब्दील हो गयी थी। आज जब देश के 93 प्रतिशत मज़दूर छोटे कारखानों, वर्कशॉपों, गोदामों में या घर में काम कर रहे हैं, या फिर रेहड़ी-खोमचे वालों, रिक्शेवालों या पटरी दुकानदारों के रूप में सेवा प्रदाता के तौर पर अनौपचारिक क्षेत्र में काम कर रहे हैं; जब देश के केवल 7 फ़ीसदी मज़दूर बड़े कारख़ानों में औपचारिक क्षेत्र में काम कर रहे हैं; जब औपचारिक क्षेत्र के भी अच्छे-ख़ासे मज़दूर ठेके/दिहाड़ी पर काम करते हुए असंगठित मज़दूर आबादी में शामिल हैं और कुल असंगठित मज़दूरों की आबादी कुल मज़दूर आबादी की 97 प्रतिशत हो चुकी हो; तो ऐसे समय में इलाक़ाई मज़दूर यूनियन के रूप में बादाम मज़दूर यूनियन और उसके संघर्ष का यह प्रयोग गहरा महत्त्व रखता है। मज़दूर आन्दोलन में ही कुछ लोग अनौपचारिक/औपचारिक क्षेत्र और संगठित/असंगठित क्षेत्र के दो किस्म के बँटवारे को नहीं समझ पाते हैं। जब हम कहते हैं कि आज मज़दूर आबादी को इलाक़ाई पैमाने पर संगठित

(पेज 13 पर जारी)

दिल्ली के बादाम मज़दूरों की 16 दिन लम्बी हड़ताल

(पेज 12 से आगे)

करने की आवश्यकता है, तो इसका यह अर्थ ऐसे अपचयनवादी ही निकाल सकते हैं कि हम कारख़ाने के स्तर पर मज़दूरों को संगठित करने का विरोध कर रहे हैं। जैसा कि हमने बताया, बड़े कारखानों (औपचारिक क्षेत्र के कारखानों) में भी असंगठित मज़दूर बड़े पैमाने पर काम कर रहे हैं, और उनकी तादाद बढ़ रही है। औपचारिक क्षेत्र के भी असंगठित मज़दूरों को संगठित करने काम को प्राथमिकता बनाना होगा। चूँकि यह मज़दूर आबादी लगातार गतिमान रहती है और कारख़ाने बदलती रहती है, इसलिए कारख़ाना मज़दूरों की भी इलाक़ाई यूनियनें बनानी होंगी। ऐसी इलाक़ाई यूनियनें अनौपचारिक क्षेत्र के असंगठित मज़दूरों और औपचारिक क्षेत्र के असंगठित मज़दूरों – दोनों को ही संगठित करने का काम करेंगी।

बादाम मज़दूर यूनियन के संयोजक आशीष कुमार ने बताया कि बादाम मज़दूर यूनियन तमाम ऐसे मज़दूरों के हक़ों के लिए भी लड़ी है जो बादाम मज़दूर नहीं हैं और इसकी अन्तर्वस्तु करावलनगर के मज़दूरों की यूनियन की ज़्यादा है और बादाम मज़दूरों की यूनियन की कम। ऐसे में हम जल्दी ही बादाम मज़दूर यूनियन के नाम को बदलकर 'करावलनगर मज़दूर यूनियन' करने के विषय में गम्भीरतापूर्वक सोच रहे हैं। इलाक़ाई मज़दूर यूनियन और आन्दोलन की पूरी अवधारणा को लागू करने के रूप में बादाम मज़दूरों का यह संघर्ष एक अद्वितीय प्रयोग था। इसके परिणामस्वरूप अगर मज़दूरों को आंशिक विजय ही मिल सकी तो भी यह राजनीतिक तौर पर मज़दूरों की चेतना को कई सीढ़ियाँ ऊपर चढ़ाने वाला आन्दोलन था।

इस आन्दोलन का दूसरा सकारात्मक पहलू यह था कि यह आन्दोलन कारखाना-केन्द्रित मज़दूर आन्दोलनों के मुकाबले कहीं ज़्यादा वर्ग सचेत था। बादाम मज़दूरों की आबादी वह मज़दूर आबादी है जिसे घुमक्कड़ मज़दूर आबादी कहा जा सकता है। बादाम मज़दूरों के परिवार के पुरुष आम तौर पर कई जगहों पर काम कर चुके होते हैं। मज़दूर महिलायें भी बादाम संसाधन का काम करने में अपने गोदाम बदलती रहती हैं। वे किसी एक गोदाम या एक मालिक के तहत लम्बे समय तक कम ही रहते हैं। नतीजतन, वे व्यापक तौर पर पूरे मालिक वर्ग का व्यवहार देखते हैं और उनकी घृणा के निशाने पर कोई एक विशेष मालिक नहीं बल्कि पूरा मालिक वर्ग ही होता हैं क्योंकि अपने वैविध्यपूर्ण वर्ग अनुभव से वे पूरे मालिक वर्ग के ही व्यवहार को समझते और पहचानते हैं। इसलिए इस पूरे आन्दोलन का काफ़ी राजनीतिक चरित्र रहा और मज़दूरों की वर्ग नफ़रत लगातार अपने आपको राजनीतिक रूप में अभिव्यक्त करती रही।

इस आन्दोलन का तीसरा सकारात्मक पहलू इसका क्षेत्रवाद-विरोधी और जातिवाद-विरोधी चरित्र रहा। अधिकांश बादाम मज़दूर बिहार से हैं और बिहार के भी कुछ विशिष्ट इलाक़ों से आते हैं। बाकी बचे बादाम मज़दूर उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल से आते हैं। बिहारी और गैर-बिहारी मज़दूरों के बीच एक विभाजन काम करता है जिसे मालिक भी बढ़ावा देते हैं। लेकिन इस आन्दोलन के दौरान सचेतन राजनीतिक प्रचार के ज़रिये इस क्षेत्रवादी विभाजन को तोड़ा गया। यह विभाजन निश्चित रूप से पूरी तरह एक ही आन्दोलन के दौरान नहीं ख़त्म हो सकता है। लेकिन निस्सन्देह यह विभाजन इस राजनीतिकीकरण के परिणामस्वरूप कमज़ोर पड़ा है। इसके अतिरिक्त, बिहारी मज़दूर आपस में भी गोत्र और जाति के प्रश्न पर बँटे हुए थे। इस बँटवारे को तो इस आन्दोलन ने काफ़ी हद तक तोड़ दिया है। इन विभाजनों के कमज़ोर पड़ने और टूटने के साथ इलाक़े के मज़दूरों की वर्ग एकता निश्चित तौर पर मज़बूत हुई है।

आन्दोलन का चौथा सकारात्मक पहलू था महिला मज़दूरों की बड़े पैमाने पर सक्रिय और जुझारू भागीदारी। महिलाओं ने राजनीतिक पहलक़दमी की ही नहीं बल्कि राजनीतिक दृष्टि की भी मिसालें पेश कीं। वास्तव में, गोदामों के आगे जाम लगाने की योजना महिला मज़दूरों ने ही यूनियन नेतृत्व के सामने रखी थी। इस योजना को लेकर यूनियन नेतृत्व शुरू में उहापोह में था और महिला मज़दूरों के आत्मविश्वास को देखते हुए इस योजना को रज़ामन्दी दी गयी। यूनियन नेतृत्व पर पुलिस या गुण्डों के हमलों का जवाब देने का काम भी महिला मज़दूरों ने ही किया और मालिकों के आतंक के जवाब में मज़दूरों के आतंक को स्थापित करने का काम भी महिला मज़दूरों ने ही किया। वास्तव में, यह आन्दोलन महिला मज़दूरों के बूते ही यहाँ तक पहुँचा।

इस आन्दोलन के दौरान मज़दूरों के सामने करावलनगर के पूरे क्षेत्र का वर्ग सन्तुलन भी स्पष्ट हो गया। आन्दोलन के दौरान जो पक्ष जिसकी ओर था वह खुलकर उसके साथ आ गया। जितने भी चुनावी पार्टियों के नेता थे, वे पिछले वर्ष तक होने वाली हड़तालों के दौरान चक्कर लगाने लगते थे। लेकिन इस बार वे ग़ायब थे। मालिकों के पक्ष में कुछ दुकानदार थे और इलाक़े के कुछ हैसियतदार गुज्जर नागरिक। इसके अतिरिक्त, समस्त आबादी या तो तटस्थ थी या आन्दोलन के मौन समर्थन में थी। आम नागरिकों की बहुसंख्या मज़दूरों का समर्थन कर रही थी।

कुल मिलाकर इस पूरे आन्दोलन के दौरान मज़दूरों ने बहुत-कुछ सीखा। पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी राज्यसत्ता के स्तम्भों – दोनों से ही टकराने और उन्हें समझने का अवसर मज़दूरों को मिला। चुनावी पार्टियों की असलियत भी सामने आयी और मीडिया की असलियत भी। सबसे बड़ी बात यह रही कि करावलनगर इलाक़े के हज़ारों असंगठित मज़दूरों (औपचारिक क्षेत्र के भी और अनौपचारिक क्षेत्र के भी) के अन्दर यह आत्मविश्वास पैदा हुआ कि वे संगठित और एकजुट हो सकते हैं और इतनी बड़ी और जुझारू लड़ाई लड़ सकते हैं। बादाम मज़दूर यूनियन का पुख्ता तौर पर एकमात्र मान्य नेतृत्व के रूप में स्थापित होना, आन्दोलन का ऐतिहासिक तौर पर बड़े पैमाने और लम्बे समय तक चलना, इलाक़ाई मज़दूर यूनियन और आन्दोलन के रूप में एक नये प्रयोग का स्थापित होना, और असंगठित मज़दूरों की इतनी बड़ी आबादी के बीच एकजुट, संगठित हो सकने और लड़ सकने का आत्मविश्वास पैदा होना इस आन्दोलन के सबसे बड़े सकारात्मक पहलू रहे।

नकारात्मक शिक्षण

जहाँ तक नकारात्मक पहलू का सवाल है मज़दूरों और उनके नेतृत्व की सबसे बड़ी भूल थी मालिकों की आर्थिक तौर पर टिक पाने की ताक़त को कम करके आँकना। आन्दोलन की तैयारी के दौरान हुई सभी बैठकों में मज़दूर प्रतिनिधियों, स्वयंसेवकों और यूनियन नेतृत्व के सदस्यों का यही मूल्यांकन था कि तेज़ी के मौसम में मालिक अधिक से अधिक एक हफ्ता हड़ताल झेल सकते हैं; उसके बाद उन्हें झुकना ही पड़ेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। संचित पूँजी के दम पर मालिक और लम्बा टिक सकते थे और टिके। इससे हड़ताल के अन्त के दौर में कई मज़दूर साथी थकने लगे थे। आर्थिक दबाव इस थकान में उतना अहम नहीं था, जितना कि मालिकों के हफ्ते भर में झुकने की अपेक्षा का पूरा न होना। अगर हड़ताल तीन दिन और जारी रह पाती तो यह आंशिक जीत पूर्ण जीत हो सकती थी।

दूसरा बड़ा नकारात्मक था उत्तर प्रदेश और बिहार के मज़दूरों के बीच पूर्ण एकता स्थापित नहीं हो पाना। यह सच है कि गोदामों को बन्द कराकर हड़ताल को 100 प्रतिशत तक पहुँचाया गया। लेकिन उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल के अधिकांश मज़दूर अपनी पहल पर हड़ताल में शामिल नहीं हुए थे। इसका एक कारण यह भी है कि बादाम मज़दूर यूनियन का अभी उन इलाक़ों में इतना काम और प्रचार ही नहीं था कि वह उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल के मज़दूरों को उनकी पहल पर शामिल करवा पाती। आगे के कार्यभारों में यूनियन के समक्ष एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार यह है कि उत्तर प्रदेश के बादाम मज़दूरों को एकजुट करे और हर प्रकार के क्षेत्रवादी बँटवारे को ख़त्म करके मज़दूरों की वर्ग एकता को कायम करे।

तीसरा महत्त्वपूर्ण नकारात्मक पक्ष बा.म.यू. के नेतृत्व का था। यूनियन के नेतृत्व का मज़दूरों की पहलक़दमी और विवेक पर पर्याप्त विश्वास नहीं था। यही कारण था कि महिलाओं के हड़ताली दस्तों को शुरुआती तीन दिनों के दौरान यूनियन नेतृत्व आक्रामक रुख़ा अख़्तियार नहीं करने दे रहा था। मज़दूरों के हुजूम को भीड़ के रूप में देखने की निम्न पूँजीवादी प्रवृत्ति भी कुछ नेतृत्व के साथियों में मौजूद थी। लेकिन ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, यूनियन का नेतृत्व आपसी बहस-मुबाहिसे और ज़मीनी अनुभव के आधार पर इस अविश्वास से निजात पाता गया और मज़दूरों की वर्ग पहलक़दमी और वर्ग विवेक पर उसका भरोसा पैदा हुआ। सही मायनों में मज़दूरों ने नेतृत्व को व्यावहारिक मामलों में सही समय पर सही अवस्थिति अपनाने में काफ़ी जगह मदद की और नेतृत्व की किंकर्तव्य-विमूढ़ता को दूर किया। पुलिस और गुण्डों से निपटने के मामले में मज़दूरों ने ऐन मौके पर स्वयं निर्णय लिये और सही निर्णय लिये। यूनियन के नेतृत्व ने मज़दूरों के विचारों और निर्णयों को परिष्कृत कर वापस मज़दूरों तक पहुँचाने का काम निश्चित रूप से किया। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में कई जगह अपने अनिर्णय की स्थिति को दूर करने में नेतृत्व ने मज़दूरों से काफ़ी कुछ सीखा। वर्ग पहलक़दमी और वर्ग विवेक पर भरोसा – यह इस आन्दोलन के नेतृत्व ने आन्दोलन के दौरान ही सीखा।

चौथी अहम नकारात्मक शिक्षा करावलनगर के बादाम मज़दूरों के लिए ख़ास महत्त्व रखती है। इस पूरे आन्दोलन के दौरान मालिकों के दलालों ने अफ़वाहों के ज़रिये मज़दूरों के हौसले को तोड़ने के प्रयास लगातार जारी रखे। मालिकों के दलालों की भूमिका विशेष तौर पर गोदामों में स्टाफ़ (सुपरवाइज़र) के रूप में काम करने वाले लोगों और एक्टू के स्थानीय नेता शोहराय बिन्द ने निभायी। चूँकि ये स्टाफ़ वाले लोग मज़दूरों में से ही कुछ के रिश्तेदार या पट्टीदार हैं, इसलिए इनकी बातों का मज़दूरों पर प्रभाव पड़ रहा था। ये स्टाफ़ के लोग मज़दूरों के बीच में बिल्कुल मज़दूरों की ही तरह रहते हैं, उन्हीं की भाषा बोलते हैं, उन्हीं की तरह खाना खाते और कपड़े पहनते हैं। कोई देखकर यह नहीं बता सकता है कि कौन स्टाफ़ वाला है और कौन मज़दूर है। नतीजतन, मज़दूर स्वयं उन्हें अपने से बहुत अधिक भिन्न करके नहीं देखते। लेकिन वास्तव में, स्टाफ़ के लोग ही मालिकों की सबसे बड़ी ताक़त हैं। मज़दूरों के हौसले को तोड़ने का काम मालिक पुलिस या गुण्डों के बूते नहीं कर पाये। लेकिन स्टाफ़ के लोगों के ज़रिये अफ़वाहें फैलाकर वे कई बार भ्रम की स्थिति पैदा कर देते थे और कई बार अराजकता फैलाने में भी सफल हो जाते थे। साथ ही, एक्टू के शोहराय बिन्द ने जान-बूझकर कई जगह मारपीट करवाकर आन्दोलन को भटकाने की कोशिश की। लेकिन शोहराय बिन्द अब मज़दूरों के बीच इतना बेनक़ाब हो चुका है कि कोई मज़दूर उसकी बात पर यक़ीन नहीं करता। एक जगह मज़दूरों के एक जुलूस को जब उसने अपने भाकपा (माले) के बैनर तले समेट लेने की कोशिश की तो मज़दूरों ने उसे वहाँ से उसके झण्डे-बैनर समेत खदेड़ दिया। इसके बाद शोहराय बिन्द दोबारा आन्दोलन के इर्द-गिर्द नहीं फटका। लेकिन स्टाफ़ के दलालों ने अपना काम अन्तिम दिन तक जारी रखा। मज़दूरों की सचेत आबादी के बीच तो उनका चरित्र साफ़ हो चुका है लेकिन वे भी अभी पुराने रिश्तों आदि के कारण उनके ख़िलाफ़ कोई आक्रामक रुख नहीं अपना पाते हैं। इसके कारण मज़दूरों के संगठन के ढाँचे में इन दलालों के घुसने के लिए गुंजाइश बन जाती है और कई बार वे आन्दोलन में घुस जाते हैं। बादाम मज़दूर साथियों को यह समझना होगा कि जिसने मालिक वर्ग की वर्ग अवस्थिति और पक्ष अपना लिया वह मालिक वर्ग का हो गया। उसका अब हमारे वर्ग से कोई लेना-देना नहीं और उसके प्रति हमारा रुख़ और दृष्टिकोण वही होना चाहिए जो मालिकों के प्रति होता है। इस कमज़ोरी के दूर हुए बग़ैर हमें आगे के संघर्षों में नुकसान उठाना पड़ सकता है।

कुल मिलाकर यह लड़ाई बहुत कुछ सीखने, हासिल करने और याद रखने की लड़ाई थी। इलाक़ाई पैमाने की ट्रेड यूनियन के रूप में बादाम मज़दूर यूनियन का खड़ा होना, दिल्ली के इतिहास में एक यादगार मज़दूर आन्दोलन का खड़ा होना, एक पूरे इलाक़े में मज़दूरों की वर्ग शक्ति का स्थापित होना, अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद से मुक्त एक मज़दूर आन्दोलन का खड़ा होना, जाति और क्षेत्र के बँटवारों पर मज़दूरों की वर्ग एकता के ज़रिये चोट किया जाना; यह सब दिल्ली के मज़दूर आन्दोलन की एक उपलब्धि थी और इसे हमेशा याद रखा जायेगा। जिस दौर में अधिकांश मज़दूर आन्दोलन असफलता और हताशा में ख़त्म हो रहे हैं, उस दौर में मज़दूरों का, और वह भी पूरी तरह असंगठित मज़दूरों का यह शानदार संघर्ष आंशिक आर्थिक विजय के बावजूद एक शानदार राजनीतिक विजय था।

– अभिनव

"हर तरह का समाज उत्पीड़क और उत्पीड़ित वर्गों के विरोध पर क़ायम रहा है। लेकिन किसी भी वर्ग का उत्पीड़न करने के लिए यह ज़रूरी है कि उसे कम से कम ऐसी सुविधाएँ दी जायें जिससे और न सही तो, एक गुलाम वर्ग के रूप में, वह ज़िन्दा रह सके। भूदास व्यवस्था के युग में भूदास ने उन्नति कर कम्यून की सदस्यता हासिल कर ली थी, उसी तरह जैसे निम्न-बुर्जुआ सामन्ती निरंकुशता के जुवे के नीचे बुर्जुआ बनने में सफल हो गया था। लेकिन आधुनिक मज़दूर की दशा बिल्कुल उल्टी है। उद्योग की उन्नति के साथ, ऊपर उठने के बजाय, वह स्वयं अपने वर्ग के अस्तित्व के लिए आवश्यक अवस्थाओं के स्तर के नीचे गिरता जाता है। वह कंगाल हो जाता है और उसकी मुफ़लिसी आबादी और दौलत से भी ज़्यादा तेज़ी से बढ़ती है। ऐसी स्थिति में यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि बुर्जुआ वर्ग अब समाज का शासक बने रहने के और समाज पर अपने अस्तित्व की अवस्थाओं को, अनिवार्य नियम के रूप में, लादने के अयोग्य है। बुर्जुआ वर्ग शासन करने के अयोग्य है क्योंकि वह अपने गुलाम को गुलामी की हालत में ज़िन्दा रहने की गारण्टी देने में असमर्थ है, क्योंकि वह उसके जीवन स्तर में ऐसी गिरावट नहीं रोक सकता जिसके फलस्वरूप वह उसकी कमाई खाने के बजाय उसका पेट भरने को मजबूर हो जाता है। समाज अब बुर्जुआ वर्ग के मातहत नहीं रह सकता – दूसरे शब्दों में, बुर्जुआ वर्ग का अस्तित्व अब समाज से मेल नहीं खाता। ... बुर्जुआ वर्ग सर्वोपरि अपनी क़ब्र खोदने वालों को पैदा करता है। उसका पतन और सर्वहारा वर्ग की विजय दोनों समान रूप से अनिवार्य हैं।"

– कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र

ज्योति बसु और संसदीय वामपन्थी राजनीति की आधी सदी

(पेज 6 से आगे)

था। 1941 में ज्योति बसु ने बंगाल-असम रेलवे के मज़दूरों के बीच काम किया और उनके यूनियन सेक्रेटरी भी रहे। कुछ समय तक उन्होंने बंदरगाह और गोदी मज़दूरों के बीच भी काम किया।

कम्युनिस्ट पार्टी क़ानूनी घोषित की जाने के बाद 1943 में जब उसकी पहली कांग्रेस हुई तो उसमें ज्योति बसु प्रान्तीय संगठनकर्ता चुने गये। फिर चौथे राज्य सम्मेलन में उन्हें राज्य कमेटी में चुना गया। 1946 से देश एक ऐसे संक्रमण काल से गुज़रने लगा था, जिसमें प्रचुर क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ निहित थीं। नौसेना विद्रोह, देशव्यापी मज़दूर हड़तालें, तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्ष – इन ऐतिहासिक घटनाओं ने अगले तीन-चार वर्षों के दौरान पूरे देश को हिला रखा था। अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी, नेतृत्व में एकजुटता के अभाव और ढीले-ढाले सांगठनिक ढाँचे के कारण पार्टी इस निर्णायक घड़ी में पहल अपने हाथ में लेने में पूरी तरह विफल रही (ऐसे अवसर वह पहले भी गँवा चुकी थी)। राष्ट्रीय आन्दोलन को नेतृत्व देने वाला बुर्जुआ वर्ग जनता की आकांक्षाओं के साथ विश्वासघात करते हुए साम्राज्यवादियों के साथ समझौते के साथ बुर्जुआ शासन की पूर्वपीठिका तैयार कर रहा था। बेशुमार साम्प्रदायिक ख़ून-ख़राबे के बाद देश का विभाजन हो रहा था। ऐसी राजनीतिक आज़ादी मिल रही थी जो अधूरी और खण्डित थी। साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद के बजाय उसके आर्थिक हितों की सुरक्षा की गारण्टी दी जा रही थी। रैडिकल भूमि सुधार के मामले में भी कांग्रेस के विश्वासघात के संकेत मिल चुके थे। सार्विक मताधिकार के आधार पर चुने जाने के बजाय महज 12 फीसदी आबादी द्वारा चुनी गयी संविधान सभा अत्यन्त सीमित जनवादी अधिकार देने वाला (और ज़रूरत पड़ने पर उन्हें भी छीन लेने के इन्तज़ामों से लैस) वाग्जालों से भरा संविधान बना रही थी।

इस संक्रमण काल में कम्युनिस्ट पार्टी कन्फ्यूज़ थी, अनिर्णय का शिकार थी। रही-सही कसर रणदिवे की "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन ने पूरी कर दी। नेहरू की भेजी हुई भारतीय फ़ौजों ने तेलंगाना किसान संघर्ष को कुचल दिया। लम्बी कमज़ोरियों और भूल-ग़लतियों के सिलसिले ने पार्टी को उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचा दिया। तेलंगाना पराजय के बाद पार्टी पूरी तरह से संशोधनवादी हो गयी। चुनावी वामपन्थ का ज़माना आ गया। ज्योति बसु इस दौरान क्या कर रहे थे! किसान संघर्षों और जुझारू मज़दूर आन्दोलन को क्रान्तिकारी दिशा देने की किसी कोशिश के बजाय, पार्टी के निर्णय का पालन करते हुए उन्होंने 1946 की प्रान्तीय विधायिका का चुनाव लड़ा, रेलवे कांस्टीच्युएंसी से (सीमित मताधिकार के आधार पर), और विजयी रहे। उसी वर्ष भीषण साम्प्रदायिक दंगों के दौरान गाँधीजी जब बंगाल गये तो ज्योति बसु उनसे मिले और उनकी सलाह से एक शान्ति कमेटी बनायी और शान्ति मार्च निकाला। तेलंगाना किसान संघर्ष को लेकर पार्टी में जो कई लाइनों का संघर्ष था, उसमें उनकी कोई भूमिका नहीं थी। 1952 में जब पहले आम चुनाव हुए, तब वे बंगाल विधानसभा के सदस्य चुने गये और विधान चन्द्र राय की कांग्रेसी सरकार के शासनकाल के दौरान विपक्ष के नेता रहे। तबसे लेकर, सन् 2000 तक, 1972-77 की समयावधि को छोड़कर ज्योति बसु लगातार बंगाल की विधानसभा के लिए चुने जाते रहे। संसदीय राजनीति ही आधी शताब्दी तक उनका कार्यक्षेत्र बनी रही। 1951 में वे पार्टी के बांग्ला मुखपत्र 'स्वाधीनता' के सम्पादक-मण्डल के अध्यक्ष चुने गये। 1953 में वे राज्य कमेटी के सचिव चुने गये। 1954 की मदुरै पार्टी कांग्रेस में वे केन्द्रीय कमेटी में और फिर पालघाट कांग्रेस में सेक्रेटेरियट में चुने गये। 1958 में अमृतसर की जिस विशेष कांग्रेस ने सोवियत पार्टी की बीसवीं कांग्रेस की ख्रुश्चेवी संशोधनवादी लाइन को सर्वसम्मति से स्वीकार किया था, उसी कांग्रेस में ज्योति बसु राष्ट्रीय परिषद में चुने गये थे। 1964 में जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का भाकपा और माकपा में विभाजन हुआ, तो यह संशोधनवाद और क्रान्तिकारी कम्युनिज़्म के बीच का विभाजन नहीं था। वह विभाजन वस्तुत: संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद के बीच था, नरमपन्थी संसदीय वामपन्थ और गरमपन्थी संसदीय वामपन्थ के बीच था, अर्थवाद और जुझारू अर्थवाद के बीच था। डांगे-राजेश्वर राव गुट (भाकपा) ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का पूर्ण समर्थक था और नेहरूवादी "समाजवाद" को प्रगतिशील राष्ट्रीय बुर्जुआ की नीति मानकर कांग्रेस का पुछल्ला बनने को तैयार था। विरोधी गुट (माकपा) ज़्यादा शातिर संशोधनवादी था। माकपा नेतृत्व ख्रुश्चेवी संशोधनवाद की आलोचना करता था, लेकिन साथ ही चीन की पार्टी को भी अतिवाद का शिकार मानता था। सत्तारूढ़ सोवियत पार्टी को वह संशोधनवादी, लेकिन राज्य को समाजवादी मानता था। इस तर्क से कालान्तर में राज्य का समाजवादी चरित्र भी समाप्त हो जाना चाहिए था, पर इसके उलट, माकपा ने कुछ ही वर्षों बाद सोवियत पार्टी को भी बिरादर पार्टी मानना शुरू कर दिया। माकपा नेतृत्व नेहरू सरकार को साम्राज्यवाद का जूनियर पार्टनर बन चुके इजारेदार पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि मानकर उनके विरुद्ध राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा बनाकर संघर्ष करने की बात करता था।

माकपा का चरित्र हालाँकि उसकी संसदीय राजनीति ने बाद में एकदम नंगा कर दिया, लेकिन 1964 में अपने गरम तेवर दिखाकर क्रान्तिकारी क़तारों के बड़े हिस्से को अपने साथ लेने में वह सफल हो गयी। पार्टी संगठन के लेनिनवादी उसूलों के हिसाब से देखें तो माकपा का संशोधनवादी चरित्र 1964 से ही एकदम साफ़ था। 1951 से जारी पार्टी के एकदम खुले, क़ानूनी, संसदीय चरित्र और कार्यप्रणाली को माकपा ने यथावत् जारी रखा। पार्टी सदस्यता की प्रकृति रूस के मेंशेविकों से भी गयी-गुज़री थी। अमृतसर कांग्रेस में पार्टी संविधान में किये गये बदलाव को 1964 में यथावत् क़ायम रखा गया। पार्टी के लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के हिसाब से दीर्घकालिक लोकयुद्ध ही क्रान्ति का मार्ग हो सकता था, पर इसके उल्लेख से बचकर पार्टी कार्यक्रम में छलपूर्ण भाषा में "संसदीय और ग़ैर-संसदीय रास्ते" का उल्लेख किया गया। कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी बुर्जुआ संसदीय चुनावों का महज रणकौशल के रूप में इस्तेमाल करती है। संसदीय मार्ग को ग़ैर-संसदीय मार्ग के समकक्ष रखना अपने आप में संशोधनवाद है। 1967 में और 1969 में माकपा यही कहती थी कि वह संसद-विधानसभा का इस्तेमाल रणकौशल (टैक्टिक्स) के रूप में ही करती है। लेकिन 33 वर्षों तक बुर्जुआ व्यवस्था के अन्तर्गत बंगाल में शासन करते हुए (इनमें से 23 वर्षों तक ज्योति बसु के मुख्यमन्त्रित्व में) उसने बुर्जुआ नीतियों को भरपूर वफ़ादारी के साथ लागू किया है और वर्ग संघर्ष की तैयारी के लिए चुनावों के टैक्टिकल इस्तेमाल के बजाय हर जनान्दोलन को कुचलने के लिए राज्यतन्त्र का बर्बर इस्तेमाल किया है। ज्योति बसु को इस साफ़गोई के लिए सराहा जाना चाहिए कि 1977 से 1990 के बीच दो-तीन बार उन्होंने कहा था कि 'हम पूँजीवाद के अन्दर एक राज्य में सरकार चला रहे हैं, समाजवाद नहीं ला रहे हैं।' माकपा पिछले दो-तीन दशकों से चुनाव के 'टैक्टिकल इस्तेमाल' वाला जुमला भूले से भी नहीं दुहराती। अब वह न केवल ख्रुश्चेवी शान्तिपूर्ण संक्रमण के सिद्धान्त को पूरी तरह से मौन स्वीकृति दे चुकी है और उसके और भाकपा के बीच व्यवहारत: कोई अन्तर नहीं रह गया है, बल्कि उसका आचरण एक निहायत भ्रष्ट एवं पतित सामाजिक जनवादी पार्टी जैसा ही है। भ्रष्टाचार का दीमक उसमें अन्दर तक पैठ चुका है (हालाँकि अन्य बुर्जुआ पार्टियों से फिर भी काफ़ी कम है) और बंगाल में राज्य मशीनरी के साथ माकपाई गुण्डों-मस्तानों के समानान्तर तन्त्र की मौजूदगी ने सोशल फ़ासिस्ट दमन का माहौल बना रखा है।

जब माकपा-भाकपा का बँटवारा हो रहा था तो कुछ मध्यमार्गी भी थे जो बीच में डोल रहे थे। फिर इनमें से कुछ भाकपा में गये कुछ माकपा में। जैसे, भूपेश गुप्त भाकपा में गये, ज्योति बसु माकपा में। ज्योति बसु शुरू से ही एक घुटे-घुटाये संसदीय वामपन्थी थे। 1967 में नक्सलबाड़ी किसान उभार के बाद एक नये ध्रुवीकरण की शुरुआत हुई। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कतारें भारी तादाद में माकपा से निकलकर नक्सलबाड़ी के झण्डे तले इकट्ठा होने लगीं। नक्सलबाड़ी पहले एक क्रान्तिकारी जनसंघर्ष के रूप में फूटा लेकिन 1969 आते-आते उसपर चारु मजुमदार की "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन हावी हो गयी और फिर इसी लाइन पर भाकपा (मा.ले.) का निर्माण हुआ। जो लोग आतंकवादी लाइन के विरोधी थे, वे भी राष्ट्रीय परिस्थितियों और कार्यक्रम की ग़लत समझ के कारण कोई क्रान्तिकारी विकल्प नहीं दे सके और यह पूरी धारा बिखराव का शिकार हो गयी। लेकिन 1967-68 में तो नक्सलबाड़ी उभार ने माकपा के सामने अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया था।

1967 में बंगाल में संयुक्त मोर्चे की जो सरकार बनी थी, उसमें माकपा शामिल थी। ज्योति बसु उप-मुख्यमन्त्री तथा वित्त और परिवहन के मन्त्री थे। माकपा ने सरकार से बाहर आकर नक्सलबाड़ी किसान उभार को समर्थन देने के बजाय, पहले तो वहाँ के स्थानीय पार्टी नेताओं एवं कतारों को समझाने-बुझाने का प्रयास किया। फिर सभी को पार्टी से बाहर किया गया और राज्य की सशस्त्र पुलिस मशीनरी और (राज्य सरकार की अनुमति से) केन्द्रीय सशस्त्र बलों का इस्तेमाल करके नक्सलबाड़ी आन्दोलन को बेरहमी से कुचल दिया गया। इसमें ज्योति बसु की उप-मुख्यमन्त्री के रूप में अहम भूमिका थी। इस समय तक आन्दोलन पूरे देश में फैल चुका था। हर राज्य में माकपा टूट रही थी। मा-ले पार्टी के गठन की प्रक्रिया शुरू हो रही थी। माकपा नेतृत्व ने सभी नक्सलबाड़ी समर्थकों को पार्टी से निकाल बाहर किया। 1969 में प. बंगाल में पुन: संयुक्त मोर्चे की जो सरकार बनी, उसमें भी ज्योति बसु उप-मुख्यमन्त्री थे और साथ ही गृह, पुलिस और सामान्य प्रशासन विभाग भी उन्हीं के पास था। इस समय नक्सलबाड़ी तो कुचला जा चुका था, पर बंगाल के कई इलाक़े धधक रहे थे। "वामपन्थी" आतंकवादी कार्रवाइयाँ भी शुरू हो चुकी थीं। ज्योति बसु ने इस बार प्रतिरोध को कुचलने के लिए पुलिस मशीनरी का बर्बर और बेधड़क इस्तेमाल किया। 1972 के चुनावों में ज़बर्दस्त धाँधली के बाद बंगाल में कांग्रेस की सरकार बनी। सिद्धार्थ शंकर रे मुख्यमन्त्री बने। पूरे देश में तो आपातकाल जून 1975 में लगा, लेकिन बंगाल में नक्सलवादियों के दमन के नाम पर यन्त्रणा, फ़र्ज़ी मुठभेड़ों के ज़रिये फ़ासिस्ट पुलिस राज्य सिद्धार्थ शंकर रे ने 1972 में ही क़ायम कर दिया था। माकपा ने 1972 से 1977 तक विधानसभा का बहिष्कार किया। 1977 में आपातकाल हटने के बाद केन्द्र में जनता पार्टी शासन स्थापित हुआ और बंगाल में वाम मोर्चे का शासन क़ायम हुआ जो आज तक जारी है। ज्योति बसु मुख्यमन्त्री बने और 2000 तक इस पद पर रहते हुए एक कीर्तिमान स्थापित किया। यह इतिहास का स्मरणीय तथ्य है कि सिद्धार्थ शंकर रे के शासनकाल के पहले, गृह एवं पुलिस मन्त्रालय सँभालते हुए नक्सलवाद के दमन के नाम पर पुलिस राज्य क़ायम करने का काम ज्योति बसु ने भी किया था।

1977 में ज्योति बसु ने जब बंगाल का मुख्यमंत्रित्व सँभाला उस समय उनके सामने नक्सलबाड़ी की चुनौती नहीं थी। लेकिन नक्सलबाड़ी की एक नसीहत सामने थी, जिसपर सभी बुर्जुआ अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ और संशोधनवादी सहमत थे। सबकी कमोबेश एक ही राय थी और वह यह कि यदि नक्सलबाड़ी जैसे विस्फोटों से और उसके "सम्भावित" भयावह नतीजों से बचना है तो बुर्जुआ भूमि सुधारों की गति थोड़ी और तेज़ करनी होगी। ज्योति बसु ने इसी काम को 'आपरेशन बर्गा' के रूप में अंजाम दिया। आज माकपाई झाल-करताल लेकर 'ऑपरेशन बर्गा' का कीर्तन करते हैं। 'ऑपरेशन बर्गा' कोई क्रान्तिकारी भूमि सुधार नहीं था। वह "ऊपर से किया गया," प्रशियाई टाइप, स्टॉलिपिन सुधार टाइप, मरियल बुर्जुआ भूमि सुधार कार्यक्रम था, जिसने आंशिक तौर पर भूमि के मालिकाने के सवाल को हल करके बंगाल की खेती में क्रमिक पूँजीवादी विकास की ज़मीन तैयार की और वहाँ कुलकों-पूँजीवादी किसानों के पैदा होने का आधार बनाया। ऐसे भूमि सुधार बहुतेरे अन्य प्रान्तों में हो चुके थे। बंगाल पीछे छूटा हुआ था। यदि रैडिकल चरित्र की ही बात की जाये तो छठे दशक के शुरू में ही, अपने पहले शासनकाल के दौरान शेख़ अब्दुल्ला ने जम्मू-कश्मीर में ज़्यादा रैडिकल बुर्जुआ भूमि-सुधार कार्यक्रम लागू किया था।

1977 तक भारत का पूँजीवाद काफ़ी मज़बूत हो चुका था और कृषि के पूँजीवादीकरण की प्रक्रिया को तेज़ करके, रहे-सहे अर्द्ध-सामन्ती अवशेषों को समाप्त करके एक व्यापक राष्ट्रीय बाज़ार का निर्माण करना उसकी ज़रूरत थी। ज्योति बसु ने 'ऑपरेशन बर्गा' के द्वारा पूँजीवादी भूमि-सुधार के इसी कार्यक्रम को कुशलतापूर्वक लागू किया और भारतीय पूँजीवाद की ऐतिहासिक सेवा की। 'ऑपरेशन बर्गा' ने काश्तकार किसानों को आंशिक मालिकाना हक़ देकर पूँजीवादी खेती के विकास के साथ ही इन नये छोटे-बड़े मालिक किसानों में माकपा का नया सामाजिक आधार और वोट बैंक तैयार किया। गाँवों में जो बड़े मालिक किसानों का ताक़तवर हिस्सा पैदा हुआ, उसे राजनीतिक सत्ता में (आर्थिक ताक़त के अनुरूप) भागीदारी भी चाहिए थी। यह उसे एक ओर माकपा पार्टी तन्त्र के स्थानीय मनसबदार के रूप में हासिल हुआ (बंगाल में माकपा की पार्टी मशीनरी प्रशासन मशीनरी के साथ मिलकर काम करती है) और दूसरी ओर पंचायती राज ने उसे लूटने-खाने और शासन करने का मौक़ा दिया। पूँजीवादी पंचायती राज का 'ट्रेण्ड-सेटर' प्रयोग वास्तव में ज्योति बसु ने किया था जिसे राजीव गाँधी शासन काल के दौरान कांग्रेस ने अपना लिया था (हालाँकि उतने प्रभावी ढंग वह इसे लागू नहीं कर पायी)।

बंगाल के गाँवों में पूँजीवादी विकास का सिलसिला जब कुछ और आगे बढ़ा तो जो छोटे मालिक किसान पूँजीवादी शोषण का शिकार हो रहे थे, उनका धीरे-धीरे माकपा व वाम मोर्चा से मोहभंग होने लगा। माकपा के स्थानीय कार्यकर्ताओं (जो प्राय: नवधनिक कुलक या ग्रामीण मध्यवर्ग के लोग थे) की गुण्डागर्दी और भ्रष्टाचार ने इसमें विशेष भूमिका निभायी। उधर नवधनिक कुलकों का एक हिस्सा भी लूट के माल और स्थानीय सत्ता के बँटवारे के बढ़ते अन्तरविरोधों के चलते माकपा से दूर हटा। गाँवों में इन्हीं के बीच तृणमूल कांग्रेस ने (और कहीं-कहीं कांग्रेस ने भी) अपना नया वोट बैंक तैयार किया है।

वर्ष 1977 में ज्योति बसु के नेतृत्व में वाम मोर्चा सरकार की विभिन्न सुधारवादी कार्रवाइयों ने नगरों-महानगरों में मध्य वर्ग को विशेष तौर पर अपनी ओर खींचा। संगठित मज़दूरों को भी शुरू में कुछ आर्थिक लाभ मिले। सबसे बड़ी बात यह थी सिद्धार्थ शंकर रे के काले आतंक राज को भूलने और कांग्रेस को माफ़ करने के लिए मध्यवर्ग और मज़दूर कत्तई तैयार नहीं थे। यही कारण था कि जब ज्योति बसु सरकार के बुर्जुआ

(पेज 15 पर जारी)

समर तो शेष है

नये संकल्प लें फिर से
नये नारे गढ़ें फिर से
उठो संग्रामियो ! जागो !
नयी शुरुआत करने का समय फिर आ रहा है
कि जीवन को चटख गुलनार करने का समय फिर आ रहा है !

चलो, अब इक नये अभियान के पदचाप गूँजें
मौत की सुनसान सूनी वादियों में फिर।
कि नूतन सर्जना के राग भर दें
शोकगीतों से भरी इन घाटियों में फिर।

दरकती हिमशिलायेँ, सर्दियों के बाद हरदम ही
बसन्त आता रहा है, यह प्रकृति की गति रही है।
अँधेरे गर्भ में ही रौशनी पलती रही है, पराजय झेलने पर भी
शिविर में न्याय के हरदम मशालें जीत की जलती रही हैं।

पराजय आज का सच है
समर तो शेष है फिर भी
उठो ओ सर्जको !
नवजागरण के सूत्र रचने का समय फिर आ रहा है
कि जीवन को चटख गुलनार करने का समय फिर आ रहा है।

गुलामों की नयी फ़ौजें सजेंगी, हिल उठेगी
रोम की ताक़त और आतंक पिघलेगा।
महल वर्साय का फिर धूल में मिल जायेगा,
गतिरोध टूटेगा, महाविद्रोह उट्ठेगा।

कम्यूनार्ड पेरिस के उठेंगे हर नगर में,
अव्रोरा जलपोत से फिर तोप गरजेंगे।
लातिनी अमेरिका, एशिया में, अफ़्रीका में
क्रान्तियों के रक्तवर्णी मेघ बरसेंगे।

न उनकी जीत अन्तिम है
न अपनी हार अन्तिम है
उठो ओ नौजवानो !
इन्क़लाबों के नये संस्करण रचने का समय फिर आ रहा है
कि जीवन को चटख गुलनार करने का समय फिर आ रहा है।

हर शहर से एक शिकागो उठ खड़ा हो
सोच कर आगे बढ़ें हम फिर।
मई दिवस बन जाये हर दिन साल का
यह सोच कर तैयारियाँ करने लगें हम फिर।

सुनो इतिहास कहता है, पराजय झेलकर ही
क्रान्तियाँ परवान चढ़ती हैं, नया इतिहास बनता है।
अँधेरा आज गहरा है, श्रमिक जन मुक्त होंगे
एक दिन निश्चित, समय का ज्ञान कहता है।

सजेंगे फिर नये लश्कर
मचेगा रण महाभीषण
उठो ओ शिल्पियो!
नवयुद्ध के उपकरण गढ़ने का समय फिर आ रहा है
कि जीवन को चटख गुलनार करने का समय फिर आ रहा है।

– शशि प्रकाश

ज्योति बसु और संसदीय वामपन्थी राजनीति की आधी सदी

(पेज 14 से आगे)

सुधारों का 'स्कोप' समाप्त हो गया, शासन-प्रशासन में बढ़ता भ्रष्टाचार साफ़ दीखने लगा और माकपा के स्थानीय नेताओं की दादागिरी भी बढ़ने लगी, तब भी बंगाल की जनता – विशेषकर शहरी मध्य वर्ग और औद्योगिक मज़दूर उसे मजबूरी का विकल्प मानते रहे। बंगाल के शहरों में जनवादी चेतना अधिक रही है और सिद्धार्थ शंकर रे के शासनकाल को याद करके बंगाल की जनता सोचती रही कि जनवादी अधिकारों के नज़रिये से माकपा शासन को बनाये रखना उसकी विवशता है।

इस बीच ज्योति बसु, माकपा और वाम मोर्चे का सामाजिक जनवादी चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता चला गया। भद्रपुरुष ज्योति बाबू बार-बार मज़दूरों को हड़तालों से दूर रहने और उत्पादन बढ़ाने की राय देने लगे, जबकि मज़दूरों की हालत लगातार बद से बदतर होती जा रही थी। ज्योति बसु विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करने के लिए बार-बार पश्चिमी देशों की यात्रा पर निकलने लगे (कभी छुट्टियाँ बिताने तो कभी आर्थिक-तकनीकी मदद के लिए 1990 तक रूस और पूर्वी यूरोप तो जाते ही रहते थे)। देशी पूँजीपतियों को पूँजी-निवेश के लिए पलक-पाँवड़े बिछाकर आमन्त्रित किया जाने लगा। देश के तमाम बड़े पूँजीपति (विदेशी कम्पनियाँ भी) पूँजी निवेश के लिए बंगाल के परिवेश को अनुकूल बताने लगे। दिक्क़त अब उन्हें हड़तालों से नहीं थी, बल्कि माकपा के उन ट्रेड यूनियन क्षत्रपों से थी जो मज़दूरों से वसूली करने के साथ ही मालिकों से भी कभी-कभी कुछ ज़्यादा दबाव बनाकर वसूली करने लगते थे।

जब 1991 से नरसिंह राव की सरकार ने उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों की शुरुआत की तो माकपा देश स्तर पर तो उसका विरोध कर रही थी, लेकिन बंगाल में ज्योति बसु की सरकार उन्हीं नीतियों को लागू कर रही थी। चीन का "बाज़ार समाजवाद" माकपा को नवउदारवादी लहर में बहने का तर्क दे रहा था, दूसरी ओर उदारीकरण-लहर को कुछ "मानवीय चेहरा" देने मात्र की सिफ़ारिश करते हुए माकपा 'सेफ़्टी वॉल्व' का और पैबन्दसाज़ी का अपना पुराना सामाजिक जनवादी दायित्व भी निभा रही थी। गत् शताब्दी के अन्तिम दशक के उत्तरार्द्ध तक माकपा की नीतियों से मज़दूर वर्ग और शहरी निम्न मध्यवर्ग को अब आंशिक सुधार की भी उम्मीद नहीं रह गयी थी। पूँजी निवेश से रोज़गार पैदा होने की उम्मीदें मिट्टी में मिल चुकी थीं। कलकत्ता के औद्योगिक मज़दूरों की स्थिति अन्य औद्योगिक केन्द्रों से भी बदतर थी।

माकपा ने मुहल्ले-मुहल्ले तक, मज़दूर बस्तियों से लेकर दुर्गापूजा समितियों तक अपने मस्तान नुमा कार्यकर्ताओं का ऐसा नेटवर्क तैयार कर लिया था कि अस्पताल में भरती होने से लेकर स्कूल में एडमिशन तक का काम उनके बिना नहीं हो सकता था। माकपा प्रभुत्व वाली मज़दूर यूनियनों और छात्र यूनियनों के प्रभाव क्षेत्र में राजनीतिक पैठ की किसी कोशिश को गुण्डागर्दी से दबा दिया जाता था। इसी प्रकार का माफ़िया तन्त्र गाँवों में पार्टी दफ़्तरों और पंचायती राज संस्थाओं के इर्द-गिर्द निर्मित हो चुका था। यह सब कुछ ज्योति बसु के ही शासनकाल के दौरान हुआ था। इसके बावजूद विशेषकर पिछले दो या तीन चुनावों में वाममोर्चा यदि जीता तो उसका मुख्य कारण था सी.पी.एम. के पार्टी माफ़िया तन्त्र का आतंककारी, प्रभावी नेटवर्क और किसी कारगर बुर्जुआ चुनावी विकल्प का अभाव। तृणमूल ने एक हद तक स्वयं वैसा ही नेटवर्क खड़ा करके (लोहे को लोहे से काटने की नीति अपनाकर), गाँवों में मालिक किसानों के प्रतिस्पर्द्धी गुटों और माकपा से निराश ग़रीब किसानों को साथ लेकर तथा कांग्रेस के साथ मोर्चा बनाकर जब प्रभावी चुनौती पेश की है तो प्रबुद्ध शहरी मध्यवर्ग का बड़ा हिस्सा भी इधर आकृष्ट हुआ है। सिंगूर और नन्दीग्राम ने माकपा की मिट्टी और अधिक पलीद करने का काम किया है। चुनावी राजनीति के दायरे में पहली बार माकपा के सितारे गर्दिश में नज़र आ रहे हैं। इस दायरे के बाहर क्रान्तिकारी विकल्प की तलाश करते हुए मेहनतकश ग्रामीण आबादी का सबसे तबाह हिस्सा और रैडिकल शहरी युवाओं का एक हिस्सा "वामपन्थी" दुस्साहसवादी राजनीति की ओर मुड़ा है। तीसरी ओर, औद्योगिक मज़दूरों और रैडिकल छात्रों-युवाओं का एक हिस्सा क्रान्तिकारी जन राजनीति की नयी दिशा और नये रूपों के सन्धान की ओर उन्मुख हुआ है। बंगाल की राजनीति आज एक मोड़ पर खड़ी है। आगे बदला हुआ परिदृश्य चाहे जैसा भी हो, इतना तय है कि माकपा के "सुनहरे दिन" अब बीत चुके हैं।

सच पूछें, तो इस पराभव की शुरुआत तो ज्योति बसु के शासन काल के दौरान ही हो चुकी थी। यूँ तो स्वास्थ्य कारणों से 2000 में उन्होंने मुख्यमन्त्री पद छोड़ा था, लेकिन इज़्ज़त बचाकर निकल लेने के लिए, ससम्मान मंच से विदा होने के लिए, उन्होंने बिल्कुल सही समय का चुनाव किया था। व्यक्तिगत तौर पर एक कसक रह गयी थी – 1996 में वी.पी. सिंह द्वारा प्रस्ताव रखने के बावजूद माकपा ने उन्हें देश का प्रधानमन्त्री बनने से रोक दिया था। इसके पहले 1989 में भी अरुण नेहरू और चन्द्रशेखर ने वी.पी. सिंह की जगह उन्हें प्रधानमन्त्री बनने का प्रस्ताव रखा था, पर तब वे खुद ही नहीं चाहते थे। 1996 में उनका कैल्कुलेशन यह था कि यदि वे प्रधानमन्त्री बन जायेंगे तो अन्य बुर्जुआ पार्टियाँ बहुत दिनों तक तो सरकार चलने नहीं देंगी। इस तरह मरने से पहले प्रधानमन्त्री बनने की उनकी निजी साध भी पूरी हो जायेगी और सत्ताच्युत होने के बाद यह कहकर "शहीद" बनने का मौक़ा मिल जायेगा कि जनहित की नीतियाँ लागू करते ही साम्राज्यवादियों-पूँजीपतियों और बुर्जुआ पार्टियों ने उनकी सरकार गिरा दी। पार्टी में प्रकाश करात के हावी गुट का कैल्कुलेशन यह था कि केन्द्र स्तर पर यदि दो-ढाई वर्षों तक भी सरकार चलती रही तो नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के चलते माकपा की लँगोटी उतर जायेगी और बची-खुची इज़्ज़त भी नीलाम हो जायेगी। अब इनमें से कौन ज़्यादा सही सोच रहा था, यह अटकल लगाना हमारा काम नहीं है। जो भी हो, पूँजीवादी संसदीय जनवाद की इतनी सेवा करने के बावजूद ज्योति बसु को यदि प्रधानमन्त्री बनने की साध लिये-लिये इस दुनिया से जाना पड़ा, यदि अपने ही "कामरेडों" ने किये-दिये पर पानी फेर दिया, तो वे कर भी क्या सकते थे! ज़्यादा से ज़्यादा भड़ास निकाल सकते थे और 1996 के पार्टी के निर्णय को "ऐतिहासिक भूल" बताकर उन्होंने यही किया था।

ज्योति बसु प्रधानमन्त्री भले ही नहीं बन सके, उन्हें उनके अवदानों के लिए न केवल अपने संसदीय वामपन्थी साथियों से, बल्कि बुर्जुआ नेताओं, विचारकों और बुद्धिजीवियों से तथा बुर्जुआ मीडिया से भरपूर सम्मान मिला। उनके निधन पर सभी ने शोकविह्वल होकर उन्हें याद किया। क्रान्तिकारी उथल-पुथल के तूफ़ानों से डरने वाले, भलेमानस मध्यवर्ग के बहुतेरे शान्तिवादी, पैबन्दवादी, करुणामय हृदय वाले बुद्धिजीवियों ने भी पुरानी पीढ़ी के इस संसदीय वामपन्थी महारथी को भावुक होकर श्रद्धांजलि दी।

– दीपायन बोस

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या SSP/LW-NP/399/2009-11 | प्रेषक डाकघर - महानगर | प्रेषण तिथि - माह की 13, 14, 15 तारीख़

ज्योति बसु (1914-2010) के निधन के अवसर पर

ज्योति बसु और संसदीय वामपन्थी राजनीति की आधी सदी

ज्योति बसु नहीं रहे। विगत 17 जनवरी 2010 को 96 वर्ष का लम्बा जीवन जीने के बाद कलकत्ता के एक अस्पताल में उन्होंने अन्तिम साँस ली। निधन के दिन से लेकर अन्तिम यात्रा (उन्होंने अपना शरीर मेडिकल रिसर्च के लिए दान कर दिया था) तक बुर्जुआ राजनीतिक हलकों में उन्हें उसी सम्मान के साथ याद किया गया और श्रद्धांजलि दी गयी, जितना सम्मान आज़ादी के बाद देश के शीर्षस्थ बुर्जुआ नेताओं को दिया जाता रहा है।

माकपा, भाकपा, आर.एस.पी., फ़ॉरवर्ड ब्लॉक आदि रंग-बिरंगी चुनावी वामपन्थी पार्टियों के नेताओं के अतिरिक्त प्रधानमन्त्री और सोनिया गाँधी से लेकर सभी बुर्जुआ दलों के नेताओं ने कलकत्ता पहुँचकर ज्योति बसु को श्रद्धांजलि दी। कई पूँजीपतियों ने बंगाल में पूँजी लगाने में उनके सहयोग को भावविह्वल होकर याद किया। टाटा, बिड़ला, जैन आदि सभी छोटे-बड़े पूँजीपति घरानों के छोटे-बड़े अंग्रेज़ी-हिन्दी अख़बारों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए स्मृति लेख लिखे। कुछ टुटपूँजिया टिप्पणीकारों ने आश्चर्य प्रकट किया कि इतना भलेमानस आदमी कम्युनिस्ट क्यों और कैसे था? किसी ने लिखा कि वे भले आदमी पहले थे और कम्युनिस्ट बाद में। समझदार बुर्जुआ टिप्पणीकारों ने ऐसी बातें नहीं की। वे जानते हैं कि ज्योति बसु जैसे संसदीय कम्युनिस्टों की इस व्यवस्था को कितनी ज़रूरत होती है! यदि उनके ऊपर "कम्युनिस्ट" का लेबल ही नहीं रहेगा, तो वे पूँजीवादी व्यवस्था के लिए उतने उपयोगी भी नहीं रहे जायेंगे।

ज्योति बसु बेशक संसदीय वामपन्थ के महारथी थे। वे एक कुशल राजनेता और प्रशासक थे। संसदीय वामपन्थी बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति की भूमिका निभाता है। वह कथनी और करनी से मज़दूर वर्ग को इस बात का क़ायल करता है कि चुनाव जीतकर दबाव बनाकर तथा हड़तालों एवं आन्दोलनों के द्वारा वेतन आदि सुविधाएँ क्रमशः बढ़ाते जाते हुए मज़दूर वर्ग अपनी खुशहाली हासिल कर सकता है, अतः आज की दुनिया में बलपूर्वक राज्यक्रान्ति करने की, यानी बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस करके सर्वहारा राज्यसत्ता क़ायम करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। पैबन्दसाज़ी से ही काम चल जायेगा। शान्तिपूर्ण संक्रमण से समाजवाद आ जायेगा। वे मज़दूर वर्ग को सलाह देते हैं कि वे मन लगाकर उत्पादन बढ़ायें, उत्पादन बढ़ेगा, तो पूँजीपति उनकी तनख़्वाहें भी कुछ बढ़ा देंगे। बर्नस्टीन, काउत्स्की, टीटो, अल ब्राउडर, ख्रुश्चेव, देङ सियाओ-पिङ – संशोधनवाद के सभी दिग्गजों की भाषाएँ भले अलग-अलग रही हों, लेकिन उनकी नसीहतों का निचोड़ यही रहा है – वर्ग-संघर्ष नहीं वर्ग सहयोग, क्रान्ति नहीं सुधार और शान्तिपूर्ण बदलाव। इसीलिए लेनिन ने संशोधनवाद को पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति की संज्ञा दी थी। इस दूसरी सुरक्षा पंक्ति के ज्योति बसु जैसे क़द्दावर सेनानी की मृत्यु पर पूँजीवादी व्यवस्था के अग्रणी पंक्ति के थिंक टैंकों और नेताओं का शोक विह्वल होना स्वाभाविक था।

ज्योति बसु एक 'भद्रलोक' (जेण्टलमैन) कम्युनिस्ट थे – शालीन, नफ़ीस, सुसंस्कृत। वे क्रान्ति और संघर्ष की वे बातें नहीं करते थे, जो खाते-पीते "जेण्टलमैन" सुधारवादी मध्यवर्ग को भाती नहीं। ज्योति बसु की जीवन-शैली, कार्य-शैली उनकी राजनीति के सर्वथा अनुरूप थी। इसलिए "सामाजिक अशान्ति" से भयाकुल रहने वाले मध्यवर्ग के उन लोगों को और (आदतों एवं जीवनशैली में मध्यवर्ग बन चुके) सफ़ेदपोश कुलीन मज़दूरों को वे काफ़ी भाते थे। जो दयालु, करुणामय और "शान्तिप्रिय" मध्यवर्गीय भलेमानस पूँजीवादी व्यवस्था को आमूल रूप से बदल डालने के "ख़तरनाक और जोखिम भरे झंझट" से दूर रहकर इसी व्यवस्था को सुधारकर ग़रीब-गुरबा की ज़िन्दगी में भी बेहतरी लाने के भ्रम में जीते हैं और ऐसा भ्रम पैदा करते हैं, जो लोग पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के क्षुद्र रहस्य और पूँजीवादी राजनीतिक तन्त्र के अपरिवर्तनीय वर्ग-चरित्र को समझे बिना यह सोचते रहते हैं कि यदि नेता भ्रष्टाचारी न हों और नौकरशाही-लालफ़ीताशाही न हो तो सबकुछ ठीक हो जायेगा, ऐसे भोले-भाले, नेकनीयत मध्यवर्ग के लोगों को भी ज्योति बसु, नम्बूदिरिपाद, सुन्दरैया जैसे व्यक्तित्व बहुत भाते हैं। यह भी सामाजिक जनवाद या संशोधनवादी राजनीति की एक सफलता है।

ज्योति बसु सादगी भरा, लेकिन उच्च मध्यवर्गीय कुलीन जीवन जीते थे, लेकिन उनपर भ्रष्टाचार का आरोप नहीं लगाया जा सकता। उनसे भी अधिक सादा जीवन माकपा के गोपालन, सुन्दरैया, नम्बूदिरिपाद, हरेकृष्ण कोन्नार, प्रमोद दासगुप्ता जैसे नेताओं का था। पर बुनियादी सवाल किसी नेता के सादगी और ईमानदारी भरे निजी जीवन का नहीं है। बुनियादी सवाल यह भी नहीं है कि वह नेता समाजवाद और कम्युनिज़्म की बातें करता है। बुनियादी सवाल यह है कि क्या समाजवाद और कम्युनिज़्म की उसकी बातों का वैज्ञानिक आधार है, क्या उसकी नीतियाँ एवं व्यवहार अमली तौर पर मज़दूर वर्ग को उसकी मुक्ति की निर्णायक लड़ाई की दिशा में आगे बढ़ाते हैं? सादा जीवन गाँधी का भी था और अपने बुर्जुआ मानवतावादी सिद्धान्तों पर उनकी निजी निष्ठा पर भी सन्देह नहीं किया जा सकता। उनके मानवतावादी यूटोपिया ने करोड़ों आम जनों को जागृत-सक्रिय किया, लेकिन उस यूटोपिया को अमल में लाने की हर प्रकार की कोशिश की अन्तिम परिणति पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक ढाँचे की स्थापना के रूप में ही सामने आनी थी। कहने का मतलब यह कि बुनियादी प्रश्न किसी के ईमानदार नैतिक जीवन और उसकी यूटोपियाई निजी निष्ठाओं का नहीं, बल्कि उसकी विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्ग-अवस्थिति का होता है। एक सच्चा और ईमानदार व्यक्ति यदि बुर्जुआ राजनीति के दायरे में ही काम करता है, तो वह वस्तुगत रूप से बुर्जुआ वर्ग की ही सेवा करेगा और उसकी अच्छी छवि बुर्जुआ व्यवस्था के प्रति लोगों का विभ्रम मज़बूत बनाने में मददगार ही बनेगी। लेकिन चूँकि हमारे सामाजिक व्यवहार से ही हमारी चेतना निर्मित-अनुकूलित होती है, इसलिए एक ग़लत राजनीति को वस्तुगत तौर पर लागू करने वाले लोग कालान्तर में सचेतन तौर पर भी ग़लत हो जाते हैं और निजी जीवन के स्तर पर भी ढोंग-पाखण्ड, झूठ-फरेब और भ्रष्टाचार से लबरेज़ हो जाते हैं। संशोधनवादी पार्टियों के बहुतेरे पुराने नेता व्यक्तिगत तौर पर भ्रष्ट-पतित नहीं, बल्कि भद्र नागरिक थे। आज यह बात नहीं कही जा सकती। इन पार्टियों में ऊपर यदि भ्रष्ट-पतित लोगों की भरमार है, तो नीचे क़तारों में गली के गुण्डे-लफंगे तक घुस गये हैं। इनका यह सामाजिक चारित्रिक पतन सामाजिक जनवाद/संशोधनवाद/संसदीय वामपन्थ के क्रमिक राजनीतिक पतन-विघटन की ही एक परिणति है, एक अभिव्यक्ति है और एक प्रतिबिम्ब है। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में नकली समाजवाद का झण्डा (ख्रुश्चेव काल से सोवियत संघ ही संशोधनवादियों का मक्का था) 1990 में गिर गया। फिर चीन में 1976 में माओ की मृत्यु के बाद देङपन्थी संशोधनवाद की जो सत्ता क़ायम हुई थी, उसका "बाज़ार समाजवाद" अब सरेबाज़ार अलफ़ नंगा खड़ा अपनी पूँजीवादी असलियत की नुमाइश कर रहा है। ऐसी सूरत में, दुनिया भर की रंग-बिरंगी ख्रुश्चेवी संशोधनवादी पार्टियों ने ज़्यादा खुले तौर पर पूँजीवादी संसदीय राजनीति और अर्थवादी राजनीति की चौहद्दी को स्वीकार कर लिया है। अब उनका बात-व्यवहार एकदम खुले तौर पर (सारतत्व तो पहले से ही एक था) वैसा ही हो गया है जैसा कि 1910 के दशक में मार्क्सवाद से विपथगमन करने वाली काउत्सकीपन्थी सामाजिक जनवादी पार्टियों का रहा है। यूरोप से लेकर कई लातिन अमेरिकी देशों तक में लेबर पार्टियों और सोशलिस्ट पार्टियों का आचरण दक्षिणपन्थी बुर्जुआ पार्टियों जैसा हो गया है तथा ख्रुश्चेवी कम्युनिस्ट पार्टियों का आचरण लेबर और सोशलिस्ट पार्टियों जैसा हो गया है। भारत में कुछ पुराने समाजवादी फ़ासिस्ट भाजपा के साथ गाँठ जोड़ सरकारें चला रहे हैं, कुछ धनी किसानों-कुलकों की राजनीति कर रहे हैं तो कुछ अलग-अलग बुर्जुआ पार्टियों में घुल-मिल गये हैं। जो ख्रुश्चेवी और देङपन्थी संशोधनवादी पार्टियाँ हैं, वे भूमण्डलीकरण की पूरी राजनीति एवं अर्थनीति को स्वीकारते हुए बस उसे कुछ "मानवीय चेहरा" देने की बात करती हैं तथा सरपट उदारीकरण-निजीकरण की राह में कुछ स्पीड-ब्रेकर्स लगाने की बात करती हैं, ताकि मेहनतकश अवाम का पूँजीवादी व्यवस्था और संसदीय राजनीति के प्रति भरम बने रहे तथा निर्बाध उदारीकरण-निजीकरण की भयंकर सामाजिक परिणतियाँ (बेशुमार छँटनी, बेरोज़गारी, विस्थापन, मज़दूरों के रहे-सहे अधिकारों एवं सामाजिक सुरक्षा का भी अपहरण, धनी-ग़रीब की बढ़ती खाई आदि) किसी क्रान्तिकारी तूफ़ान के उभार के लिए ज़रूरी सामाजिक दबाव न पैदा कर दें। इस तरह, अपनी छद्म वामपन्थी जुमलेबाज़ी को छोड़ देने और बुर्जुआ चेहरे से नक़ाब थोड़ा हटा देने के बावजूद, पूरी दुनिया की ही तरह, भारत की संशोधनवादी वामपन्थी पार्टियाँ अभी भी इस व्यवस्था की वफ़ादार सुरक्षा पंक्ति की, सामाजिक ताप पर ठण्डा पानी डालते रहने वाले फुहारे की तथा जनाक्रोश के दाब को कम करने वाले सेफ़्टीवॉल्व की भूमिका अत्यन्त कुशलतापूर्वक निभा रही हैं। उनके "कम्युनिज़्म" को लेकर जनता को कोई भ्रम नहीं रह गया है और इस मायने में उनकी एक भूमिका (भ्रमोत्पादक की भूमिका) तो समाप्त हो चुकी है, लेकिन "वाम" सुधारवादी राजनीतिक शक्ति के रूप में पूँजीवाद की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति के रूप में उनकी भूमिका अभी भी क़ायम है। नवउदारवाद की राजनीतिक चौहद्दी को कमोबेश खुलकर स्वीकारने के बाद, उनका सामाजिक आधार और वोटबैंक सिकुड़ता जा रहा है, पर पूँजीवाद के लिए उनकी उपयोगिता अभी भी क़ायम है। किसी सशक्त, एकजुट क्रान्तिकारी विकल्प की अनुपस्थिति से आम जनता में जो निराशा है, उसके कारण वह सोचती है कि चलो, तबतक संसदीय वामपन्थी जो भी दो-चार आने की राहत दिला देते हैं, वही सही, क्योंकि क्रान्ति तो अभी काफ़ी दूर की बात है (या कि अब सम्भव नहीं है)। यानी आज भी संशोधनवाद जनता को अपने ऊपर पूँजीवाद को शासन करने की स्वीकृति देने के लिए तैयार करने का कार्य करता रहता है। इसे ही राजनीतिक वर्चस्व को स्वीकार करना कहते हैं।

ज्योति बसु इसी संशोधनवादी वाम राजनीति के एक महारथी थे। उनके जाने का दुख उनके संसदीय वामपन्थी साथी-सँघातियों को तो है ही, पूँजीवाद के कट्टर हिमायतियों, बुर्जुआ थिंक टैंकों और रणनीतिकारों को भी है और सुधारवादी मानस वाले मध्यवर्गीय प्रगतिशीलों को भी। ज्योति बसु पुरानी पीढ़ी के संशोधनवादी थे। बुद्धदेव, सीताराम येचुरी, नीलोत्पल बसु और विजयन मार्का नये ज़माने वालों के मुकाबले वे ज़्यादा खाँटी और पुराने "कम्युनिस्टी" रंग ढंग वाले दिखते थे। पहले कभी गोपालन, सुन्दरैया, प्रमोद दासगुप्त, जैसों के मुक़ाबले ज्योति बसु ही "मॉडर्न" माने जाते थे। मज़ाक में लोग उन्हें "पार्टी का उत्तम कुमार" भी कहते थे। ज्योति बसु संसदीय वामपन्थ की अधोमुखी यात्रा के कई दौरों के साक्षी थे। तीन दशक पहले तक पार्टी में उन्हें सिद्धान्तकार और संगठनकर्ता का दर्जा, देश स्तर पर तो दूर, बंगाल स्तर पर भी हासिल नहीं था। बासवपुनैया, प्रमोद दासगुप्त, सुन्दरैया आदि की यह छवि थी। ज्योति बसु चुनावी राजनीति के स्टार थे, एक दक्ष राजनेता (स्टेट्समैन), कूटनीतिज्ञ (डिप्लोमैट) और प्रशासक थे। पंजाब के "जत्थेदार कॉमरेड" हरकिशन सिंह सुरजीत घनघोर व्यवहारवादी (प्रैग्मेटिक) और जोड़तोड़ में माहिर-तिकड़मी राजनीतिज्ञ थे।

ज्योति बसु का जन्म 1914 में बंगाल के एक उच्च मध्यवर्गीय कुलीन परिवार में हुआ था। 1935 में वे बैरिस्टरी की पढ़ाई करने लंदन गये। इस दौरान वे प्रायः लंदन स्कूल ऑफ़ इकोनॉमिक्स जाकर प्रख्यात सामाजिक जनवादी विद्वान हेराल्ड लास्की के भाषण सुनते थे। लास्की के विचारों ने ही उनके भीतर समाजवादी रुझान पैदा किया। 1937 में वे राष्ट्रवादी छात्रों के साथ 'इण्डिया लीग' और 'लंदन मजलिस' संस्थाओं में सक्रिय रहे। नेहरू, सुभाष और अन्य भारतीय नेताओं को लेबर पार्टी के नेताओं और समाजवादी नेताओं से मिलवाने का काम भी उन्होंने किया। इसी बीच 1939 में वे रजनी पाम दत्त के सम्पर्क में आये, जो ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के एक शीर्ष नेता थे। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की भारत और उपनिवेश-विषयक नीतियों की व्याख्या करते हुए वे भारत और ब्रिटेन के पार्टी मुखपत्रों में लेख लिखा करते थे और प्रायः उनमें अपनी ओर से कुछ संशोधनवादी छौंक-बघार लगा दिया करते थे। वे एक अभिजात कम्युनिस्ट थे, जिनकी संशोधनवादी रुझानें उस समय भी थीं, जब ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी का रंग अभी बदला नहीं था। बाद में संशोधनवाद की ओर पार्टी को धकेलने में उनकी अग्रणी भूमिका रही थी। तो ऐसे व्यक्ति थे ज्योति बसु के राजनीतिक पथप्रदर्शक। दरअसल अपनी पीढ़ी के बहुतेरे उच्च मध्यवर्गीय युवाओं की तरह ज्योति बसु भी एक रैडिकल राष्ट्रवादी थे जिन्हें समाजवाद के नारे आकृष्ट तो करते थे, लेकिन कम्युनिज़्म की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को वे कभी भी आत्मसात नहीं कर पाये। चूँकि कम्युनिस्ट पार्टी भी उस समय अभी समाजवाद के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्रीय मुक्ति के लिए और जनवादी क्रान्ति के लिए लड़ रही थी, इसलिए बहुतेरे ऐसे रैडिकल जनवादी राष्ट्रवादी युवा उस समय पार्टी में शामिल हो रहे थे, जिन्हें कांग्रेस की समझौतापरस्ती की राजनीति रास नहीं आ रही थी। बहरहाल, युवा ज्योति बाबू में तब नौजवानी का जोश, क़ुर्बानी का जज़्बा और आदर्शवाद की भावना तो थी ही। स्वदेश-वापसी के बाद, वक़ालत करने के बजाय उन्होंने पेशेवर क्रान्तिकारी का जीवन चुना और मज़दूरों के बीच काम करने लगे। ग़ौरतलब है कि यह भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का वह दौर था जब पी.सी. जोशी के नेतृत्व में दक्षिणपन्थी भटकाव पार्टी पर हावी

(पेज 14 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डॉ. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : **डॉ. दूधनाथ, सुखविन्दर** • सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006** • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक **बिगुल**

पूर्णांक 139 • वर्ष 12 अंक 12–वर्ष 13 अंक 1
(संयुक्तांक) जनवरी–फरवरी 2010

परिशिष्ट • 4 पृष्ठ

एकीकृत ने.क.पा. (माओवादी) के संशोधनवादी विपथगमन के ख़तरे और नेपाली क्रान्ति का भविष्य : संकटों–समस्याओं–चुनौतियों के बारे में कुछ ज़रूरी बातें

आलोक रंजन

नेपाल के बारे में 'बिगुल' में अन्तिम लेख हमने प्रचण्ड सरकार के इस्तीफ़े (4 मई '09) के एक माह बाद जून '2009 के अंक में लिखा था। उसके पहले फ़रवरी '2009 में प्रकाशित अपने लेख में नेकपा (माओवादी) के दक्षिणपंथी विपथगमन के लक्षणों-संकेतों की हमने विस्तार से चर्चा की थी। जून के लेख में भी हमने पार्टी के भटकावों का उल्लेख किया था और साथ ही नेपाली क्रान्ति के सामने उपस्थित बेहद प्रतिकूल वस्तुगत स्थितियों की भी चर्चा की थी।

अब विगत सात महीनों के घटनाक्रम-विकास को देखने के बाद हमें लगता है कि नेपाली क्रान्ति के सामने उपस्थित वस्तुगत (ऑब्ज़ेक्टिव) बाधाएँ और मनोगत (सब्ज़ेक्टिव) समस्याएँ – दोनों ही और अधिक गहन-गम्भीर होकर सामने खड़ी हैं। हमारी यह स्पष्ट मान्यता है कि क्रान्तियाँ प्रतिक्रियावादी शक्तियों के दमन, षड्यन्त्र या अन्य बाह्य पारिस्थितिक कारणों से विलम्बित हो सकती हैं, पीछे हट सकती हैं (या वक़्ती तौर पर हार भी सकती हैं); लेकिन ज़्यादातर मामलों पर विघटन, पराजय और विपर्यय का मूल कारण नेतृत्वकारी हरावल शक्ति की विचारधारात्मक कमज़ोरी (संशोधनवादी या उग्र "वामपंथी" भटकाव) होता है, पार्टी की विचारधारात्मक एकजुटता का अभाव होता है। प्रतिक्रिया की ताक़तों के हमले या कुचक्र भी प्राय: तभी अपने मक़सद में कामयाब होते हैं, जब सर्वहारा क्रान्ति की नेतृत्वकारी पार्टी विचारधारात्मक रूप से एकजुट और परिपक्व नहीं होती। नेपाल की एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) की विचारधारात्मक स्थिति और समस्याओं की चर्चा हम अरसे से करते आये हैं। दुर्भाग्यवश, समय ने हमारी चिन्ताओं-आशंकाओं को सही ठहराया है और आगे की स्थिति के बारे में भी हम फिलहाल बहुत अधिक आशावादी नहीं हैं। जाहिर है, हम इतिहास के बारे में निराशावादी दृष्टि कत्तई नहीं रखते, न ही "तबाही" की भविष्यवाणी हमारा शौक़ है। हम वैज्ञानिक यथार्थवादी आकलन पर आधारित आशावाद के क़ायल हैं। मिथ्या आशावाद, यथार्थ से परे काल्पनिक आशावाद, अगले ही दौर में जनसमुदाय में मायूसी और नाउम्मीदी की भावना को और अधिक गहरा बनाने का ही काम करता है। इसी दृष्टि से, नेपाली क्रान्ति की नेतृत्वकारी पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरियों की चर्चा हम उस दौर से ही करते रहे हैं, जब क्रान्तिकारी वामपंथी धारा के बहुतेरे पर्यवेक्षकों को वहाँ विजय आसन्न लग रही थी। नेपाल में जारी क्रान्तिकारी संघर्ष और उसकी नेतृत्वकारी ताक़तों का समर्थन और क्रान्तिकारी अभिनन्दन करते हुए भी उसके भविष्य को देखना और तदनुरूप अपनी राय रखना हम ज़रूरी अन्तरराष्ट्रीयतावादी दायित्व समझते रहे हैं।

हमारा आज भी मानना है कि नेपाल में जारी वर्ग-संघर्ष में जन-समुदाय की निर्णायक जीत का समय एकीकृत नेकपा (माओवादी) के भीतर दक्षिणपंथी, मध्यमार्गी और सारसंग्रहवादी (एक्लेक्टिक) प्रवृत्तियों की मौजूदगी और विचारधारात्मक एकता के अभाव के चलते कुछ आगे भले ही धकेल दिया जाये, संघर्ष कुछ समय के लिए गतिरोध का शिकार भले ही हो जाये, लेकिन अब न तो पुरानी स्थिति में वापस लौटना मुमकिन है, न ही क्रान्तिकारी वाम धारा को निष्प्रभावी बनाया जा सकता है। अतीत से सबक लेकर, वहाँ का क्रान्तिकारी वाम पुन: अपनी एकजुटता और संघर्ष की प्रक्रिया को आगे बढ़ायेगा। निश्चय ही, वह इस बात को भी समझेगा कि नेपाल में क्रान्ति की प्रगति का मार्ग लम्बा होगा और जटिल भी। विशेषकर, जब पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में क्रान्तिकारी उभार जैसी स्थिति उत्पन्न होगी, तो वह समय नेपाली क्रान्ति के तीव्र अग्रवर्ती विकास और निर्णायक विजय के लिए भी अनुकूल होगी। फिलहाल, नेपाल में जारी कशमकश का अन्त यदि किसी क़िस्म के बुर्जुआ जनवाद की स्थापना के रूप में भी होता है, तो संसदीय राजनीति के खिलाड़ी अपना खेल चैन से कत्तई नहीं खेल पायेंगे। व्यवस्था के बढ़ते संकट के साथ ही (और विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह अवश्यम्भावी है) वर्ग संघर्ष की लपटें फिर से विकराल ज्वाला बनने लगेंगी। बिखरी हुई क्रान्तिकारी वाम शक्तियों में एकजुटता की प्रक्रिया फिर गति पकड़ेगी और तब अतीत की नकारात्मक-सकारात्मक शिक्षाएँ उनके सामने होंगी।

•

गत वर्ष मई के पहले सप्ताह में प्रधानमंत्री प्रचण्ड के इस्तीफ़े के बाद से नेपाल की राजनीति में अस्थिरता और तरलता की जो स्थिति पैदा हुई है, फिलहाल उसके जल्द ख़त्म होने के आसार नज़र नहीं आते। वर्ष के उत्तरार्द्ध में, प्रशासन चलाने के बुनियादी कामों के अतिरिक्त और जनान्दोलनों को नियंत्रित करने में पूरी ताक़त लगाने के अतिरिक्त माधव कुमार नेपाल के नेतृत्व वाली नेकपा (ए.माले), नेपाली कांग्रेस कुछ मधेस पार्टियों और कुछ अन्य छोटे दलों की मिली-जुली सरकार ने लगभग कोई काम नहीं किया। एक तो एकीकृत नेकपा (मा) और उसके नेतृत्व वाले संयुक्त मोर्चे और जनसंगठनों की अगुवाई में पूरे नेपाल में जनान्दोलन लगातार चलते रहे। दूसरे, अंतरिम संसद/संविधान सभा के सबसे बड़े दल को अलग रखकर सरकार का काम करना वैसे भी मुश्किल था, ख़ास तौर पर तब जबकि सरकार में शामिल और समर्थन देने वाले दलों के बीच भी सत्ता की बन्दरबाँट और भावी राज्य-व्यवस्था और संविधान के स्वरूप को लेकर अन्तरविरोध और खींचतान लगातार जारी हों।

याद रहे कि प्रचण्ड की सरकार को इसलिए इस्तीफ़ा देना पड़ा था क्योंकि उन्होंने सरकारी आदेशों की अवहेलना करने वाले सेनाध्यक्ष कटवाल को बर्खास्त कर दिया था जिन्हें राष्ट्रपति रामबरन यादव ने फिर बहाल कर दिया। एकीकृत नेकपा (मा) राष्ट्रपति को अपना असंवैधानिक फैसला बदलने, खेद प्रकट करने तथा संसद में उनके निर्णय पर बहस की माँग करती रही है, जिसके लिए प्रधानमंत्री माधव कुमार नेपाल कत्तई तैयार नहीं है। वे हो भी नहीं सकते, क्योंकि कटवाल के मसले पर प्रचण्ड सरकार निहायत साज़िशाने तरीक़े से गिरायी गयी। कटवाल की बर्खास्तगी के प्रश्न पर पहले एमाले, मधेशी फ़ोरम, सद्भावना पार्टी आदि ने सहमति दे दी। लेकिन प्रधानमंत्री प्रचण्ड ने जब घोषणा कर दी तो ये सभी दल एकदम पैंतरापलट करके उसका विरोध करने लगे और कटवाल को फिर से बहाल करने के राष्ट्रपति के निर्णय के साथ खड़े हो गये।

अब यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ हो चुकी है कि इसके लिए नेपाली कांग्रेस, नेकपा (ए. माले) तथा अन्य बुर्जुआ एवं संशोधनवादी पार्टियों का अपना खुद का हित प्रेरित खेल तो ज़िम्मेदार था ही, पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों, और उनसे भी अधिक, यह भारत के दबाव का भी परिणाम था। एकदम ग़ैरज़रूरी तौर पर, नेपाल के इस ज्वलन्त मसले पर बयान देकर भारतीय राजदूत और भारतीय सेनाध्यक्ष ने अन्दर की सच्चाई को एकदम उजागर कर दिया है। भारतीय राजदूत ने तो नेपाल के अन्दरूनी मामलों में कई बार माओवादियों के प्रतिकूल बयान दिये ही, भारतीय सेनाध्यक्ष ने भी सेनाओं के एकीकरण के निर्णय का विरोध करके और कटवाल की फिर से बहाली के राष्ट्रपति के निर्णय को उचित ठहराकर आग में घी डालने का काम किया। और भारतीय बुर्जुआ मीडिया के तो कहने ही क्या! ज़्यादातर बुर्जुआ अख़बार लगातार माओवादियों के ख़िलाफ़ तथ्यों से परे आधारहीन ख़बरें गढ़ने, तथ्यों को छुपाने और भ्रामक प्रचार करने का काम करते रहे हैं।

एकीकृत नेकपा (माओवादी) ने दो मुद्दों को लेकर जनमत तैयार करने और जुझारू जनान्दोलन खड़ा करने का काम शुरू किया, जो बिल्कुल सही था। कटवाल-प्रसंग को व्यापक परिप्रेक्ष्य देते हुए उन्होंने नागरिक सर्वोच्चता बनाम सैनिक सर्वोच्चता का सवाल खड़ा किया और नेपाली कांग्रेस, नेकपा (एमाले) और अन्य बुर्जुआ एवं संशोधनवादी पार्टियों के असली चरित्र एवं घटिया अवसरवाद को उजागर करने की कोशिश की। दूसरा उन्होंने 'पड़ोसी देश' (भारत) और बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप के मसले को देश की सम्प्रभुता का सवाल बनाकर उठाया और एक बार फिर 1816 की सुगौली सन्धि से लेकर 1950 के समझौते तक भारत-नेपाल के बीच हुए सभी असमानतापूर्ण समझौतों की पुनर्समीक्षा करके, पूर्ण समानता के आधार पर नये समझौते की माँग की। ये दोनों ही मुद्दे जनता को अपील करने वाले थे। नेपाली कांग्रेस और एमाले की मौक़ापरस्ती जनता के सामने एकदम उजागर थी। मधेस पार्टियों के पालापलट के चलते तराई के इलाक़े में उनकी साख भी जनता के बीच काफ़ी गिरी। जहाँ तक भारत की बात है, नेपालव्यापी भारत-विरोधी लहर को देखते हुए यहाँ की सरकार को बैकफुट पर आना पड़ा और सेनाध्यक्ष तथा राजदूत के बयानों पर सफ़ाई देकर लीपापोती करनी पड़ी। 16 जनवरी 2010 को भारत के विदेश मंत्री एस. एम. कृष्णा ने अपनी नेपाल-यात्रा के दौरान प्रचण्ड से भी मुलाक़ात की और कहा कि भारत 1950 के समझौते सहित सभी असमानतापूर्ण समझौतों पर पुनर्विचार के लिए तैयार है।

जनसमुदाय को अपील करने वाले मुद्दों और व्यापक जन समर्थन के बावजूद, यदि माओवादी अपनी बुनियादी माँग (नागरिक सर्वोच्चता का प्रश्न, राष्ट्रपति के प्रश्न पर संसद में बहस) मनवाने में सफ़ल नहीं हो सके, तो इसका बुनियादी कारण उनके ढुलमुल रवैये, नेताओं के अन्तरविरोधी बयानों, जनान्दोलन के कार्यक्रम में लगातार बदलाव और आगे-पीछे दोलन करते रहने में निहित है। जनता के बीच लम्बे समय तक यह स्पष्ट ही नहीं हो पाया कि एकीकृत नेकपा (मा) जनसंघर्ष को आख़िर किस दिशा में और कहाँ ले जाना चाहती है।

जैसा कि सरकार में रहते समय हो रहा था, उसी प्रकार मई से जारी आन्दोलन के बाद भी अलग-अलग नेता अलग-अलग बयान देते रहे। कभी कोई नेता इस आशय का बयान देता कि अब पार्टी को आम बग़ावत के द्वारा राज्यसत्ता-ध्वंस की तैयारी करनी होगी, तो दूसरा नेता यह बयान दे देता कि जल्दी ही माओवादियों के नेतृत्व में नयी सरकार बन जायेगी, तीसरा कोई नेता संविधान-निर्माण में अड़चन न डालने का आश्वासन देते हुए निर्धारित समय सीमा (28 मई 2010) में संविधान तैयार हो जाने की उम्मीद जाहिर करने लगता। 1 नवम्बर 2009 से जब *'जनान्दोलन -तीन'* की शुरुआत हुई, उसके बाद भी शीर्ष नेताओं की अन्तरविरोधी अवस्थितियों को दर्शाने वाले वक्तव्यों, साक्षात्कारों आदि का सिलसिला जारी रहा। कुछ ने इसे क्रान्तिकारी जनविद्रोह के द्वारा राज्यसत्ता कब्ज़ा करने की निर्णायक लड़ाई की शुरुआत मानी, कुछ ने इसे केवल नागरिक सर्वोच्चता बहाल करने के मुद्दे पर केन्द्रित बताया, कुछ ने एक लोक संविधान निर्माण के आसन्न प्रश्न पर बल दिया तो कुछ ने इसका लक्ष्य माओवादी नेतृत्व में नयी सरकार का गठन बताया। बाबूराम भट्टराई ने पहले एक साक्षात्कार में बताया कि अनुभव ने सिखाया है कि बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस ही करना होगा (मानो यह बताने के लिए अब तक के विश्व ऐतिहासिक अनुभव और मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त काफ़ी नहीं थे!) फिर कुछ ही दिनों

एकीकृत ने.क.पा. (माओवादी) के संशोधनवादी विपथगमन के ख़तरे और नेपाली क्रान्ति का भविष्य

बाद एक वक्तव्य में आश्वासन दिया कि माओवादी आगे फिर कभी हथियार नहीं उठायेंगे। 'जनान्दोलन-तीन' की शुरुआत के बाद पार्टी ने स्थानीय सरकारों के गठन की घोषणा की। फिर तेरह स्वायत्तशासी राज्यों की घोषणा की। लोगों को लगा कि माओवादी समान्तर सत्ता की तैयारी की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन फिर पार्टी ने घोषणा कर दी कि यह प्रतिरोध का एक प्रतीकात्मक क़दम है और यह कि माओवादी शान्ति-प्रक्रिया के सुचारू अमल और संविधान-निर्माण के प्रति प्रतिबद्ध हैं। 16 दिसम्बर को सरकार, संयुक्त राष्ट्रसंघ और माओवादियों के बीच जनमुक्ति सेना के अवयस्क सैनिकों को डिस्चार्ज करने की कार्ययोजना पर सहमति बनी और जनवरी में इस पर कार्रवाई भी शुरू हो गयी, जबकि माओवादी सहज ही इस बात को शर्त बना सकते थे कि नागरिक सर्वोच्चता का मसला हल होने तक कोई वार्ता नहीं होगी और शान्ति-प्रक्रिया रुकी रहेगी। इस दौरान एमाले, नेपाली कांग्रेस और मधेसी जनाधिकार फोरम के नेताओं से पर्दे के पीछे की बातचीत का सिलसिला लगातार जारी रहा। प्रचण्ड इस दौरान कभी जल्दी ही माओवादी नेतृत्व वाली सरकार बनने का तो कभी राष्ट्रीय सरकार के गठन की घोषणा करते रहे।

25 दिसम्बर को बिना किसी स्पष्ट महत्वपूर्ण उपलब्धि के, पार्टी ने सहसा यह घोषणा कर दी कि नागरिक सर्वोच्चता क़ायम करने और सभी असमान संधियों को समाप्त करने के लिए (ग़ौरतलब है कि ये लक्ष्य भी बुर्जुआ संवैधानिक दायरे के सीमित और तात्कालिक लक्ष्य हैं और ये भी अभी पूरे नहीं हुए हैं और यह भी प्रश्न उठता है कि यदि इतना ही उद्देश्य था तो 'जनान्दोलन-तीन' की शुरुआत के समय लम्बी-चौड़ी घोषणाएँ और दावे क्यों किये गये थे?) जारी 'जनान्दोलन-तीन' अपने लक्ष्य में सफ़ल रहा है। अब जनता और पार्टी-कतारों के बीच यह स्पष्ट संकेत जा चुका था कि जनान्दोलनों का एकमात्र लक्ष्य माओवादी नेतृत्व में सरकार बनाने के लिए दबाव बनाना मात्र है और अब एकीकृत नेकपा (मा) संसदीय चौहद्दी के भीतर ही सारा खेल खेलने के लिए प्रतिबद्ध हो चुकी है। नये साल की घटनाओं ने इस धारणा को और अधिक पुष्ट करने का काम किया। 5 जनवरी '2010 को तीन बड़ी पार्टियों (माओवादी, एमाले और ने.का.) ने संविधान-निर्माण, शान्ति प्रक्रिया और सेनाओं के विलय सहित छः मुद्दों पर आम सहमति की घोषणा की। 7 जनवरी को सरकार और माओवादियों के बीच यह सहमति बनी कि सेनाओं के विलय का काम 112 दिनों में पूरा कर लिया जायेगा। दूसरी ओर, ठीक इसी दिन प्रधानमंत्री माधव कुमार नेपाल ने बयान दिया कि नये संविधान की घोषणा से पहले माओवादियों को हथियार त्याग देने होंगे। 8 जनवरी को शान्ति प्रक्रिया को आगे बढ़ाने और विवादास्पद मुद्दों को हल करने के लिए प्रचण्ड, गिरिजा प्रसाद कोइराला और एमाले अध्यक्ष झालानाथ खनाल को लेकर एक 'हाई लेवल पोलिटिकल मेकेनिज़्म' (एच.एल.पी.एम.) के गठन की घोषणा की गयी। एक ओर महीनों लम्बी राजनीतिक अनिश्चितता समाप्त होने के दावे किये जा रहे थे, दूसरी ओर न केवल मधेस पार्टियाँ और अन्य दल इसका विरोध कर रहे थे, बल्कि वरिष्ठ एमाले नेता के.पी. शर्मा ओली ने अन्तरिम संविधान में प्रावधान नहीं होने का तर्क देते हुए एच.एल.पी.एम. के गठन को ही असंवैधानिक घोषित कर दिया। फिर पेंच फँसा प्रधानमंत्री नेपाल के इस निकाय में शामिल होने को लेकर। प्रचण्ड ने पहले इसका विरोध किया फिर 'विशेष आमंत्रित सदस्य' के रूप में उनकी भागीदारी के लिए हामी भी भर दी।

अब आगे घटनाक्रम-विकास इसी दिशा में जारी है। 'जनान्दोलन-तीन' का संवेग क्षीण हो चुका है। कतारों के बीच और जनता में यह प्रभाव अब स्थापित हो चुका है कि माओवादी नेतृत्व दबाव बनाने और विरोधी दलों की कमज़ोरी एवं अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर संविधान सभा में अनुकूल स्थिति बनाने से आगे की बात ही नहीं सोचता। और वास्तविकता भी यही है। एकीकृत नेकपा (मा) के दक्षिणपंथी अवसरवाद या संशोधनवाद की दिशा में विपथगमन की प्रक्रिया तेज़ हो चुकी है। पार्टी में यदि क्रान्तिकारी जनदिशा की सोच मौजूद भी है तो वह काफ़ी कमज़ोर है और मौजूदा ढाँचे के भीतर उसका निर्णायक वर्चस्व क़ायम हो पाना मुश्किल है। जो सारसंग्रहवादी (एक्लेक्टिक) और व्यवहारवादी (प्रैग्मेटिक) धड़े हैं, जो कभी गरम तो कभी नरम रुख अपनाते रहते हैं, वे भी सारतः दक्षिणपंथी अवसरवादी ही हैं। मध्यमार्गियों (सेण्ट्रिस्ट) के धड़े के बारे में भी यही बात लागू होती है। पार्टी के भीतर अधिकांश अन्तरविरोध तो अलग-अलग संशोधनवादी प्रवृत्तियों-रूझानों के बीच ही होता दीख रहा है। बेहतर होगा कि हम यहाँ कुछ प्रतिनिधि अवस्थितियों पर थोड़ी चर्चा कर लें।

मोहन बैद्य (किरण), राम बहादुर थापा (बादल), सी.पी. गजुरेल, नेत्र बिक्रम चन्द आदि का धड़ा पार्टी में दक्षिणपंथी विचलन का विरोध करता रहा है और संविधान सभा/संसद एवं सरकार के बाहर जनसंघर्षों पर, क्रान्तिकारी जन-विद्रोह की तैयारी पर अधिक बल देता रहा है। लेकिन विचारधारात्मक अपरिपक्वता के कारण उनमें एक वैकल्पिक-व्यावहारिक, सुसंगत कार्ययोजना का लगातार अभाव दीखता रहा है। वर्तमान जटिल राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में नेपाल में वर्ग-संघर्ष को आगे बढ़ाने का कोई सुसंगत कार्यक्रम वे नहीं दे सके हैं। इसका कारण यह है कि उनका रैडिकलिज़्म वस्तुतः अनुभवसंगत है, उसका विचारधारात्मक आधार काफ़ी कमज़ोर है। स्मरणीय है कि किरण स्वयं "प्रचण्ड पथ" के सूत्रीकरण के अग्रणी समर्थक रहे हैं। रूसी और चीनी क्रान्ति के अनुभवों को अपने अनुभवों से बदलते हुए नेकपा (मा) ने जब सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत बहुदलीय प्रतिस्पर्द्धात्मक संसदीय जनतान्त्रिक व्यवस्था क़ायम करने का "महान सैद्धान्तिक अवदान" दिया (जो वस्तुतः घोर संशोधनवादी स्थापना है) तो किरण आदि भी इस स्थापना से सहमत थे। बुर्जुआ राज्य के ध्वंस की जगह "पुनर्गठन" जैसे ग़ैरमार्क्सवादी जुमले का इस्तेमाल किरण आदि भी करते रहे हैं। संविधान सभा और अन्तरिम सरकार में भागीदारी का सवाल विशुद्ध रणकौशलात्मक प्रश्न है और इसे रणनीति कत्तई नहीं बनाई जानी चाहिए – इस प्रश्न पर इस धड़े की भी समझ स्पष्ट नहीं रही है। इसीलिए, अतीत में सभी अहम प्रश्नों पर दो लाइनों के संघर्ष में यह धड़ा अन्ततः राजनीति के बजाय संगठन को कमान में रखकर पार्टी एकता को बनाये रखने के लिए समझौता-फार्मूले की तलाश करता रहा है। जैसे लोक जनवादी गणराज्य बनाम संघात्मक जनवादी गणराज्य के प्रश्न पर चली बहस में समझौता फार्मूला निकला – लोक जनवादी संघात्मक गणराज्य। इस नये फार्मूले की व्याख्या किरण आदि लोग गणराज्य के रूप में करते रहे, जबकि दूसरा धड़ा बुर्जुआ जनवादी गणराज्य के चरण से गुज़रकर लोक गणराज्य क़ायम करने की बातें करता रहा। हम सभी जानते हैं कि मार्क्सवादी अवस्थिति और संशोधनवादी अवस्थिति में जब मेल-मिलाप कराया जाता है तो नतीज़ा संशोधनवाद के रूप में ही सामने आता है। और बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है, पार्टी के कई ग़लत फैसलों और क़दमों की संशोधनवादी सारवस्तु को किरण आदि समझने में और उन्हें मुद्दा बनाकर संघर्ष चलाने में विफ़ल रहे। केवल कुछ उदाहरण काफ़ी होंगे। सरकार में शामिल होने के बाद जब आधार इलाक़ों की कमेटियाँ भंग की गयीं (जिन्हें वैकल्पिक लोकसत्ता की ग्रासरूट यूनिटों के रूप में क़ायम रखा जाना चाहिए था और जिनका विकास किया जाना चाहिए था) तो इस फैसले पर कोई विरोध नहीं हुआ। यदि संविधान सभा और प्रॉविज़नल सरकार में भागीदारी एक 'टैक्टिकल मूव' था तो किसी भी सूरत में पूरी पार्टी को खुला नहीं किया जाना चाहिए था। पर न केवल पूरी पार्टी खुली कर दी गयी बल्कि पेशेवर क्रान्तिकारी साथियों को घर भेजने जैसे निर्णय भी लिये गये। इस मुद्दे पर भी दो लाइनों का संघर्ष चला हो, ऐसी कोई जानकारी नहीं है। पार्टी नेतृत्व ने, जब तक प्रचण्ड की सरकार थी, तब तक पुराने आधार इलाक़ों में समान्तर लोकसत्ता को मज़बूत बनाने (वस्तुतः उन्हें कमज़ोर एवं निर्जीव बना दिया गया) और नये इलाक़ों (जिनमें शहरी इलाक़े प्रमुख हैं) में वैकल्पिक लोकसत्ता के नये रूप विकसित करने के बजाय, तथा बुर्जुआ संसदीय प्रणाली का 'एक्सपोज़र' करने के बजाय, अपना सारा ध्यान सरकार चलाने पर और "लोककल्याणकारी" कार्यों पर केन्द्रित किया। बार-बार हथियार न उठाने और नया संविधान बनाकर लोक जनवादी गणराज्य स्थापित करने जैसी बातें कहकर जनता की वर्ग चेतना को कुन्द किया जाता रहा। इन प्रत्यक्ष संशोधनवादी भटकावों को पार्टी के रैडिकल धड़े ने कभी भी मुद्दा नहीं बनाया। सेना एकीकरण (जिस पर पूर्व के लेखों में हम अपनी आपत्ति रख चुके हैं) का मुद्दा पार्टी में आम सहमति से लिया गया था और आज भी इस पर कोई बुनियादी मतभेद नहीं है। वर्ष 2009 के प्रारम्भ में (देखें 'रेड स्टार', वॉल्यूम -2, नं. - 4, फ़रवरी 2009) प्रचण्ड ने जन मुक्ति सेना को स्पष्ट सन्देश दिया था कि वह अब पार्टी के मातहत नहीं, बल्कि 'आर्मी इण्टिग्रेशन स्पेशल कमेटी' के मातहत है। सेना के एकीकरण तक यह कहना, पार्टी को उसके सशस्त्र बल से काट देना है। इस शर्त को मानना एक ख़तरनाक समझौता था। पूरे संक्रमण काल के दौरान पी.एल.ए. पर पार्टी का नेतृत्व ही होना चाहिए था। यह मसला भी पार्टी की आम सहमति का मसला था। ऐसे दर्जनों और उदाहरण हैं जो बताते हैं कि पार्टी में प्रचण्ड और भट्टराई के दक्षिणपंथी रुझानों का विरोध करने वाला रैडिकल धड़ा सभी मसलों पर सुसंगति और निरन्तरता के साथ संशोधनवादी भटकाव का विरोध नहीं करता रहा है। वैचारिक अपरिपक्वता के चलते वह कभी भी वैकल्पिक दिशा एवं कार्य योजना प्रस्तुत नहीं कर सका है (केवल रैडिकल नारे देता रहा है) और राजनीति के बजाय संगठन को कमान में रखकर संशोधनवादी लाइन के साथ मेल-मिलाप और सुलह-सफ़ाई का रवैया अपनाता रहा है।

बाबूराम भट्टराई की शुरू से ही एक सुसंगत दक्षिणपंथी अवस्थिति रही है। माओवादी अब फिर कभी हथियार नहीं उठायेंगे, यह घोषणा वह सबसे अधिक करते रहे हैं। उन्होंने कई बार इस बात पर बल दिया कि नेपाल में अभी बुर्जुआ जनवाद ही क़ायम हो सकता है, पूँजीवाद या उत्पादक शक्तियों के कुछ विकास के बाद ही लोक जनवाद क़ायम होने की परिस्थिति बन सकती है। यह सारतः देङ सियाओ पिङ प्रवर्तित 'उत्पादक शक्तियों के विकास' के सिद्धान्त का ही नया रूप है जो कहता था कि चीन में पूरा पूँजीवादी विकास कर लेने के बाद ही समाजवाद में संक्रमण सम्भव हो सकता है। वित्त मंत्री रहते हुए भट्टराई "लोक कल्याणकारी" कार्यों और भ्रष्टाचार मुक्त प्रशासन पर सर्वाधिक बल देते रहे और यह अपेक्षा करते रहे कि इससे माओवादियों का आधार मज़बूत होगा। लेकिन प्रकारान्तर से यह बुर्जुआ जनवाद विषयक विभ्रमों को मज़बूत करना था।

प्रचण्ड एक दक्ष और 'प्रैग्मेटिक' कूटनीतिज्ञ के भाँति दाँये-बाँये दोलन करते हुए, अपनी दक्षिणपंथी अवसरवादी अवस्थितियों पर पर्दा डालते रहे हैं। ऐसा करके वे रैडिकल वामपंथी कतारों को दिग्भ्रमित करके अपने साथ लेने की कोशिश करते रहे हैं। कतारों की राजनीतिक शिक्षा की कमी (राजनीति विहीन, सैन्यवादी जुझारूपन) के चलते और सांगठनिक जोड़तोड़ के चलते वे इसमें सफ़ल भी होते रहे हैं, लेकिन इस प्रक्रिया में उनका अवसरवाद ज़्यादा से ज़्यादा उजागर होता रहा है। उनका राजनीतिक व्यवहार सर्वथा अप्रत्याशित और अननुमेय होता है। बयान देना और फिर सफ़ाई देना उनकी आम प्रवृत्ति है। चीन-यात्रा से लौटने के बाद उन्होंने 'स्टेट टु स्टेट रिलेशनशिप' के साथ ही 'पार्टी टु पार्टी रिलेशनशिप' की भी बात कही थी। इसमें अन्तर्निहीत है कि वे अब चीन की पार्टी को संशोधनवादी नहीं मानते। हम पहले के लेखों में यह चर्चा कर चुके हैं कि माओवादी मुखपत्रों में अब विचारधारात्मक प्रश्नों पर कम से कम लेखन होता है, देङपंथियों की और "बाज़ार समाजवाद" की आलोचना नहीं होती और पार्टी की संशोधनवादी अंतर्वस्तु की चर्चा किये बग़ैर किम इल सुङ की जुछे विचारधारा और क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए लेख छपते हैं। पार्टी के भीतर के कुछ विश्वस्त सूत्रों के अनुसार, अपनी चीन यात्रा से लौटकर प्रचण्ड वहाँ की भौतिक प्रगति से अत्यधिक प्रभावित थे। वहाँ पूँजीवाद जनित भीषण सामाजिक विषमता, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी आदि पर उनका ध्यान ही नहीं था। यह बताता है कि 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' और देङ सियाओ पिङ के बाज़ार समाजवाद की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु को उन्होंने किस हद तक समझा है! अभी पिछले दिनों प्रचण्ड ने यह भी बयान दे डाला कि न वे नास्तिक हैं, न ही उनकी पार्टी नास्तिक है! यह सर्वहारा वर्ग की पार्टी की विचारधारात्मक अवस्थिति के बारे में लेनिनवादी समझ के उलट घोर सामाजिक जनवादी अवस्थिति है।

एकीकृत ने.क.पा. (माओवादी) के संशोधनवादी विपथगमन के ख़तरे और नेपाली क्रान्ति का भविष्य

प्रचण्ड एक दिन बयान देते हैं कि माधव नेपाल की सरकार भारतीय कठपुतली है, और अगले दिन वे सबकी भागीदारी वाले "राष्ट्रीय सरकार" की बात करने लगते हैं। आज वे नेपाली कांग्रेस को सामन्तों व दलाल पूँजीपतियों की पार्टी बताते हैं, फिर अचानक सिंगापुर में या काठमाण्डू से कोइराला से बातचीत के बाद उनका टोन बदल जाता है। यह विशुद्ध बुर्जुआ कूटनीति है। इसके चलते जनता में काफ़ी विभ्रम पैदा होता रहा है। 'रेड स्टार' में छपने वाले रोशन किस्सून जैसे उत्तर आधुनिक मार्क्सवादी के लेख और लक्ष्मण पंत के लेख के उदाहरण के ज़रिए पार्टी के संशोधनवादी भटकाव के अनेकों उदाहरण पहले के लेखों में दिये जा चुके हैं। इन दक्षिणपंथी विचलनों की मुख्य ज़िम्मेदारी पार्टी चेयरमैन प्रचण्ड की ही है।

जहाँ तक नेकपा (मा) में शामिल हुए प्रकाश (नारायण काजी श्रेष्ठ) के नेतृत्व वाले नेकपा. (एकता केन्द्र) की बात है, यह धड़ा दुविधा और अनिर्णय की स्थिति में है। अतीत में उसने दक्षिण और वाम के विचलनों के खिलाफ़ शानदार संघर्ष किये थे, लेकिन अब वह विरोधी धड़ों के बीच सन्तुलन स्थापित करते हुए पार्टी एकता को बनाये रखने की कोशिश में स्वयं अपनी विचारधारात्मक स्थिति को कमज़ोर करता नज़र आ रहा है। पहले एकता केन्द्र का आकलन था कि एकता क़ायम होने के बाद माओवादी पार्टी के भीतर के दक्षिणपंथी विचलनों से संघर्ष सुगम होगा। लेकिन अब पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि मुख्य विचारधारात्मक प्रश्नों को हल किये बग़ैर सांगठनिक एकता का निर्णय संगठन को कमान में रखकर निर्णय लेने के ग़लत अप्रोच की देन था। नतीज़तन, कतारों के स्तर तक दोनों संगठनों में व्यावहारिक-सांस्कृतिक एकता आज तक नहीं बन पाई है और पूर्व नेकपा (एकता केन्द्र) की कतारों में पस्तहिम्मती और किंकर्तव्यविमूढ़ता का आलम है। एकीकृत नेकपा (मा) के भीतर सुख-सुविधा की बुर्जुआ जीवन शैली, (सत्तासीन पार्टी में होने के नाते) भ्रष्टाचार और एमाले की प्रसिद्ध 'पजेरो संस्कृति' के जो नये रूप पैदा हुए, उनसे पार्टी के भीतर सांस्कृतिक क्रान्ति पर बल देने वाले एकताकेन्द्र के लोग भी अछूते नहीं रहे हैं। हाल के दिनों में, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाश की अवस्थिति ज़्यादातर मामलों में प्रचण्ड के साथ रही है, जबकि एकता केन्द्र धड़े के कई अग्रणी नेताओं की अवस्थिति किरण धड़े के साथ रही है। यानी बुर्जुआ विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रश्नों पर एकता बनाये बग़ैर सांगठनिक एकता बनाने का एकता केन्द्र को गम्भीर नुकसान उठाना पड़ा है। नेकपा (मा) के बड़े हिस्से को अपनी विचारधारा और राजनीतिक संस्कृति से प्रभावित करने के बजाय वह वस्तुत: उसी में घुल-मिल गया है। उसके नेताओं की स्थिति 'बैकबेंचर्स' की और सन्तुलन बनाने वालों की हो गयी है और कार्यकर्ता विभ्रम, निराशा और अनिर्णय के शिकार हो रहे हैं। पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष के लिए अल्पमत में होना कोई मायने नहीं रखता, बशर्ते कि सही लाइन की समझ स्पष्ट हो। नेकपा (एकता केन्द्र) स्वयं सही लाइन को नेतृत्व देते हुए एकीकृत संगठन में उस हद तक भी संघर्ष नहीं चला सका, जितना कि वह बाहर रहकर चला रहा था। इसके कारणों का विश्लेषण ज़रूरी है। यदि पीछे मुड़कर देखें तो पाते हैं कि अपने पूरे इतिहास में माओवादियों के "वाम" और दक्षिण के भटकावों की आलोचना करने के बावज़ूद, एकता केन्द्र एक वैकल्पिक लाइन को आगे बढ़ा पाने में, मूलत: और मुख्यत: विफल रहा। सही समय पर निर्णय ले पाने की क्षमता में कमी कई मायनों में दीखती रही है। माओवादियों द्वारा लोकयुद्ध की घोषणा के बाद (अब जिस निर्णय के समय के औचित्य पर ही पुनर्विचार की ज़रूरत है) सशस्त्र संघर्ष का दबाव उनके ऊपर भी था क्योंकि अपनी कतारों को वे सही-सटीक वैकल्पिक कार्यक्रम नहीं दे सके। एकता केन्द्र माओवादियों के बुर्जुआ संवैधानिक विभ्रमों की आलोचना करते हुए प्रॉविज़नल सरकार में भागीदारी को एक 'टैक्टिकल' क़दम मानता था और कहता था कि हम निर्माणाधीन संविधान को ज़्यादा से ज़्यादा जनोन्मुख बनाने (यानी बुर्जुआ जनवाद की चौहद्दी को थोड़ा फैलाने) के अतिरिक्त ज़्यादा कुछ नहीं कर सकते। लेकिन एकता केन्द्र ने भी इस संक्रमण अवधि के दौरान बुर्जुआ जनवाद के 'एक्सपोज़र' का और वैकल्पिक, समान्तर क्रान्तिकारी लोकसत्ता के रूपों एवं संस्थाओं को विकसित करने का, कोई ठोस कार्यक्रम नहीं रखा। पूरी पार्टी के तन्त्र के बड़े हिस्से को संवैधानिक राजनीति से अलग वर्ग-संघर्ष की तैयारी के कामों में लगाने की कोई ठोस योजना उनके पास भी नहीं थी। सेनाओं के विलय के प्रश्न पर उनकी भी सहमति थी। आधार इलाक़ों की कमेटियों को भंग करने, पेशेवर क्रान्तिकारियों को घर भेजने और पूरी पार्टी को खुली करने के निर्णयों का उन्होंने भी कोई विरोध नहीं किया। नेकपा (मा) से पहले ही वे कोइराला के नेतृत्व वाले अन्तरिम सरकार में शामिल थे और उसी दौरान उनके सामने पार्टी के नेतृत्व के कुछ हलकों और कतारों में सत्ता-संस्कृति (सत्ता की सुविधाओं से लाभ उठाने और भ्रष्टाचार की संस्कृति) के ख़तरे आये थे। जो पार्टी अपने भीतर सांस्कृतिक क्रान्ति पर बल देती हो, उसके भीतर यदि यह समस्या सत्ता में शामिल होते ही गम्भीर होकर सामने आयी तो यह मानने के पर्याप्त आधार मौजूद हैं कि पार्टी के भीतर निम्न बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ पहले से मज़बूत रूप में मौजूद रही हैं और उनके विरुद्ध प्रभावी संघर्ष नहीं चलाया जा सका है। बहरहाल, एकता केन्द्र धड़े की वर्तमान स्थिति के कारणों पर हम निर्णायक ढंग से कुछ नहीं कह सकते, लेकिन इतना ज़रूर कह सकते हैं कि अतीत में "वाम" और दक्षिण के भटकावों के विरुद्ध मूलत: और मुख्यत: सही अवस्थिति अपनाने के बावज़ूद उनकी विचारधारात्मक समझ की ज़मीन कमज़ोर रही है। इसी के नाते अतीत में भी पहलक़दमी उनके हाथों से निकलकर नेकपा (मा) के हाथों में आ गयी थी। इसी के नाते अन्तरिम सरकार में 'टैक्टिकल' भागीदारी के दौर के कामों के बारे में वे स्वयं भी कोई ठोस वैकल्पिक रूपरेखा नहीं प्रस्तुत कर सके। इसी के नाते संगठन को कमान में रखते हुए उन्होंने एकता का निर्णय लिया और इसी के नाते एकता के बाद वे पार्टी के भीतर दक्षिणपंथी अवसरवाद के विरुद्ध सुसंगत एवं निर्णायक ढंग से दो लाइनों का संघर्ष चला पाने में विफल रहे। नतीज़तन, स्वयं उनकी विचारधारात्मक अवस्थिति विसंगतियों और विघटन का शिकार हो गयी और काफ़ी हद तक वे स्वयं दक्षिणपंथी विचलन का शिकार हो गये। यह विचलन आज ज़्यादातर व्यवहारवाद (प्रैग्मेटिज़्म) और पराजयवाद के रूप में नज़र आ रहा है।

नेपाली क्रान्ति विगत लगभग दो दशकों के दौरान के सर्वाधिक संकटपूर्ण दौर से गुज़र रही है। बेशक विश्व-ऐतिहासिक और राष्ट्रीय वस्तुगत परिस्थितियाँ भी बेहद प्रतिकूल हैं। संक्रमणकालीन स्थितियों की तरलता भी जटिलता को बढ़ा रही है। ऐसे में, बाहर से बने-बनाये फार्मूले सुझाने का काम तो कत्ताई नहीं किया जा सकता। हाँ, डेढ़ सौ वर्षों के सर्वहारा संघर्षों के इतिहास और उनसके नि:सृत क्रान्ति के विज्ञान के आधार पर इतनी बातें दृढ़तापूर्वक ज़रूर की जा सकती हैं कि क्रान्ति को सफ़ल अंजाम तक वही पार्टी पहुँचा सकती है, जो विचारधारा के प्रश्न पर और रणनीति एवं आम रणकौशलों (स्ट्रैटेजी ऐण्ड जनरल टैक्टिस) के प्रश्नों पर एकजुट हो। पार्टी में दो लाइनों की मौजूदगी का मतलब यह कदापि नहीं होता कि उसमें संघर्ष के बजाय लाइनों के सहअस्तित्व और सहमेल की स्थिति हो और पार्टी का ढाँचा बुर्जुआ संघात्मक क़िस्म का हो। ऐसी पार्टी कत्तई निर्णायक नहीं होती और वर्ग युद्ध हरावल दस्ते से निर्णायक होने की माँग करता है। विजातीय विचार पार्टी में लगातार आते रहते हैं और उनके विरुद्ध समझौताविहीन संघर्ष भी एक सतत् प्रक्रिया है। जब कोई विजातीय लाइन स्पष्ट रंग-रूप एवं निरन्तरता के साथ सामने आ जाये, तो उसके विरुद्ध अविलम्ब आर-पार की लड़ाई लड़ी जानी चाहिए और इसके लिए सांगठनिक एकता की भी परवाह नहीं की जानी चाहिए। हो सकता है कि इससे तुरत नुकसान होता दीखे, लेकिन अन्ततोगत्वा क्रान्ति के लिए यही हितकर सिद्ध होगा। एक पार्टी में यदि दक्षिणपंथी अवसरवाद और सही क्रान्तिकारी वामपंथी लाइन के साथ-साथ मध्यमार्गी (सेण्ट्रिस्ट) और सारसंग्रहवादी (एक्लेक्टिक) लाइनें भी मौजूद हों, तो यह खिचड़ी अन्तत: दक्षिणपंथी ही बनती है। मध्यमार्गी और सारसंग्रहवादी लाइनें भी सारत: दक्षिणपंथी ही होती हैं और जो सही वामपंथी धारा ग़लत लाइनों के साथ सहअस्तित्व क़ायम करती है, वह भी कालान्तर में निष्प्रभावी और विघटित हो जाती है।

न केवल एकीकृत नेकपा (मा) में बल्कि पूरे नेपाल के क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन में इस समय दक्षिणपंथी अवसरवाद का भटकाव हावी है (बेशक संकीर्णतावाद और हरावलपंथ के रूप में "वामपंथी" अवसरवाद की धारा भी मौजूद है, पर वह बेहद कमज़ोर है), और इस भटकाव के विरुद्ध लड़कर ही नये सिरे से सर्वहारा क्रान्ति के हरावल दस्ते का पुनर्गठन किया जा सकता है और नेपाली क्रान्ति को उसके सुदीर्घ, जटिल एवं दुश्कर पथ पर आगे बढ़ाया जा सकता है। वैज्ञानिक मिथ्या आशाओं में नहीं जीता और वास्तविकता को स्वीकार करके आगे क़दम बढ़ाता है। जन समुदाय को भी वह यही सिखाता है।

कुछ वर्षों पूर्व नेपाल में क्रान्तिकारी वाम की जो एकता-प्रक्रिया तेज़ी से आगे डग भर रही थी, वह एकीकृत नेकपा (माओवादी) के भीतर दक्षिणपंथी भटकावों की मौजूदगी तथा संघर्षों और नाना प्रकार के समझौता फार्मूलों पर अमल की भ्रमपूर्ण स्थिति के कारण रुक गयी है। न केवल रुक गयी है, बल्कि उल्टी प्रक्रिया भी ज़ोर पकड़ रही है। पिछले वर्ष जुलाई में एकीकृत नेकपा (मा) से टूटकर 22 नेता और सैकड़ों कार्यकर्ता मातृका यादव के नेतृत्व वाली नेकपा (माओवादी) में शामिल हो गये। उन्होंने पार्टी नेतृत्व पर भ्रष्टाचार और वित्तीय अनियमितता के भी आरोप लगाये। पूर्व में एकता केन्द्र से सम्बद्ध जनमोर्चा के एक हिस्से ने, अभी भी अपना अलग अस्तित्व बनाये रखा है। 2008 के अन्त तक स्थिति यह थी कि संशोधनवादी पार्टियों के रैडिकल कार्यकर्ता भी एकीकृत माओवादी पार्टी में आने को तैयार थे, लेकिन पार्टी की अन्दरूनी स्थिति के कारण यह प्रक्रिया रुक गयी।

यही नहीं, यदि पार्टी विचारधारात्मक और रणनीतिक प्रश्नों पर एकजुट और दृढ़ होती तो एमाले और नेपाली कांग्रेस के भीतर मौजूद ऐसे रैडिकल राष्ट्रीय तत्वों को भी (जैसे एमाले में वामदेव गौतम और ने.कां. में प्रदीप गिरि तथा बड़ी तादाद में मौजूद युवा कार्यकर्ता) साथ लेकर एक राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा गठित किया जा सकता था, जो माधव नेपाल ऐण्ड कं. और कोइराला-देउबा ऐण्ड कं. की घटिया मौक़ापरस्ती और भारतोन्मुख नीतियों से बेहद नाराज़ थे। पर एकीकृत माओवादी पार्टी के भीतर एकता के अभाव के चलते ऐसा नहीं हो सका।

वर्तमान विश्व-परिस्थितियों में नेपाल जैसे पिछड़े, भूआवेष्ठित देश में सर्वहारा क्रान्ति की राह बहुत कठिन है, पर इनसे घबराकर यदि कोई पार्टी समझौते का मार्ग चुनती है या बुर्जुआ चौहद्दियों में रहकर सत्ता का भागीदार बनकर बुर्जुआ जनवादी सुधार करते हुए अनुकूल स्थिति के इन्तज़ार का रास्ता चुनती है तो इसका अर्थ यह है कि उस पार्टी का विचारधारात्मक आधार बेहद कमज़ोर है। इतिहास ने हमें बताया है कि यदि विचारधारा भटक जाती है तो "राकेट आसमान में उड़ता है और लाल झण्डा धूल में गिर जाता है" (ख्रुश्चोवी संशोधनवादी शासन के दौर के बारे में चीनी पार्टी की प्रसिद्ध टिप्पणी)। इसलिए बुनियादी सवाल वर्ग संघर्ष और सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रश्न पर अडिग रहने का है। बुनियादी सवाल इस मसले पर स्पष्टता का है कि अन्तरिम सरकार में और संविधान-निर्माण में भागीदारी महज एक 'टैक्टिकल' क़दम ही हो सकता है। बहुमत पाकर सरकार बनाकर और संविधान बनाकर लोक जनवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। पुरानी राज्यसत्ता का पुनर्गठन नहीं बल्कि ध्वंस करके ही लोक जनवादी अधिनायकत्व की अन्तर्वस्तु वाली नयी राज्यसत्ता क़ायम की जा सकती है। सरकार और राज्यसत्ता के भेद को भी स्पष्ट समझना चाहिए। नेपाल में "नयी चीज़ों" और नयी खोजों के नाम पर राज्य और क्रान्ति विषयक बुनियादी लेनिनवादी शिक्षाओं को "पुराना" घोषित करने वाले लोग स्पष्टत: ख्रुश्चोव और देङ के पदचिह्नों पर चल रहे हैं। उन्हें इतिहास की कचरापेटी के हवाले करके ही नेपाली क्रान्ति आगे डग भर सकती है।

नेपाल में कम्युनिस्ट आन्दोलन के साठ वर्षों के इतिहास ने, विशेषकर विगत दो दशकों ने वहाँ की कम्युनिस्ट कतारों को काफ़ी कुछ सिखाया है। आज भले ही स्थितियाँ प्रतिकूल लग रही हैं, पर ऐसा कत्तई नहीं हो सकता कि वहाँ के पूरे क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन को दक्षिणपंथी अवसरवाद अपने आगोश में ले ले। इतिहास से शिक्षा लेकर, वहाँ कतारों के बीच से आगे आने वाले नये नेतृत्व, और अतीत का समाहार करके सही रास्ते पर आने वाले नेतृत्व की पुरानी पीढ़ी के कुछ लोगों की रहनुमाई में, देर-सबेर सही क्रान्तिकारी लाइन एक बार फिर नयी ऊर्जस्विता के साथ अवश्य उठ खड़ी होगी और दृढ़तापूर्वक आगे क़दम बढ़ायेगी। ●

राहुल फाउण्डेशन की महत्वपूर्ण पुस्तकें

नौजवानों के लिए विशेष

1. **नौजवानों से दो बातें** / पीटर क्रोपोटकिन 5.00

शहीद भगतसिंह की 5 पुस्तिकाएं

2. **क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा** 5.00
3. **मैं नास्तिक क्यों हूँ और 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका** 5.00
4. **बम का दर्शन और अदालत में बयान** 5.00
5. **जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो** 5.00
6. **भगतसिंह ने कहा...**(चुने हुए उद्धरण) 5.00

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़

1. **भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़**/ स. सत्यम 200.00
2. **शहीदेआज़म की जेल नोटबुक**/भगतसिंह/ 65.00
3. **विचारों की सान पर** / भगतसिंह 35.00

क्रान्तिकारियों के विचारों और जीवन पर

1. **बहरों को सुनाने के लिए** (भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और कार्यक्रम) एस. इरफ़ान हबीब 100.00
2. **क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास** / शिव वर्मा 15.00
3. **भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति** /बिपन चन्द्र 15.00
4. **अमर शहीद सरदार भगतसिंह** जितेन्द्रनाथ सान्याल 80.00
5. **यश की धरोहर** भगवानदास माहौर, शिव वर्मा, सदाशिवराव मलकापुरकर 40.00
6. **भगतसिंह और उनके साथी** अजय घोष, गोपाल ठाकुर 40.00
7. **संस्मृतियाँ** / शिव वर्मा 60.00
8. **शहीद सुखदेव : नौघरा से फाँसी तक** स. डॉ. हरदीप सिंह 30.00

महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक संकलन

1. **उम्मीद एक ज़िन्दा शब्द है** ('दायित्वबोध' के महत्त्वपूर्ण सम्पादकीय लेखों का संकलन) 75.00
3. **एनजीओ : एक ख़तरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र** 50.00
4. **डब्ल्यूएसएफ़ : साम्राज्यवाद का नया ट्रोजन हॉर्स** 50.00

ज्वलन्त प्रश्न

1. **'जाति' प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफ़ी नहीं, अम्बेडकर भी काफ़ी नहीं, मार्क्स ज़रूरी हैं** / रंगनायकम्मा 140.00

दायित्वबोध पुस्तिका शृंखला

1. **अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएँ** दीपायन बोस 10.00
2. **समाजवाद की समस्याएँ, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** / शशिप्रकाश 20.00
3. **क्यों माओवाद?** / शशिप्रकाश 10.00
4. **बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में** / चाङ चुन-चियाओ 5.00
5. **भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास** सुखविन्दर 30.00

आह्वान पुस्तिका शृंखला

1. **छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें?** 10.00
2. **आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष** 10.00
3. **आतंकवाद के बारे में : विभ्रम और यथार्थ** 10.00
4. **क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन** 15.00

बिगुल पुस्तिका शृंखला

1. **कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा** /लेनिन 5.00
2. **मकड़ा और मक्खी** /विल्हेल्म लीब्नेख़्त 3.00
3. **ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीक़े** सेर्गेई रोस्तोवस्की 5.00
4. **मई दिवस का इतिहास** / अलेक्ज़ैण्डर ट्रैक्टनबर्ग 6.00
5. **पेरिस कम्यून की अमर कहानी** 10.00
6. **अक्टूबर क्रान्ति की मशाल** 12.00
7. **जंगलनामा : एक राजनीतिक समीक्षा** डॉ. दर्शन खेड़ी 5.00
8. **लाभकारी मूल्य, लागत मूल्य, मध्यम किसान और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण : एक बहस** 30.00
9. **संशोधनवाद के बारे में** 5.00
10. **शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी** हावर्ड फ़ास्ट 10.00
11. **मज़दूर आन्दोलन में नयी शुरुआत के लिए** 15.00
12. **मज़दूर नायक, क्रान्तिकारी योद्धा** 10.00
13. **चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही** 3.00
14. **बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ** 3.00
15. **राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन** अभिनव 15.00
16. **फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?** अभिनव 15.00
17. **नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार** आलोक रंजन 50.00

मार्क्सवाद

1. **धर्म के बारे में** / मार्क्स, एंगेल्स 100.00
2. **सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में चुने हुए उद्धरण** / मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन 15.00
3. **मार्क्सवाद की मूल समस्याएँ** जी. प्लेख़ानोव 30.00
4. **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र** मार्क्स-एंगेल्स 20.00
5. **साहित्य और कला** /मार्क्स-एंगेल्स 150.00
6. **फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष** / मार्क्स 40.00
7. **फ़्रांस में गृहयुद्ध** / मार्क्स 20.00
8. **लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर** / मार्क्स 35.00
9. **उज़रती श्रम और पूँजी** / मार्क्स 10.00
10. **मज़दूरी, दाम और मुनाफ़ा** / मार्क्स 15.00
11. **गोथा कार्यक्रम की आलोचना** / मार्क्स 10.00
12. **लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त** / एंगेल्स 20.00
13. **जर्मनी में क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति** / एंगेल्स 30.00
14. **समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक** एंगेल्स 20.00
15. **पार्टी कार्य के बारे में** / लेनिन 15.00
16. **एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे** लेनिन 60.00
17. **जनवादी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद के दो रणकौशल** / लेनिन 25.00
18. **समाजवाद और युद्ध** / लेनिन 20.00
19. **साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम अवस्था** लेनिन 30.00
20. **राज्य और क्रान्ति** / लेनिन 20.00
21. **सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काउत्स्की** / लेनिन 15.00
22. **दूसरे इण्टरनेशनल का पतन** / लेनिन 15.00
23. **गाँव के ग़रीबों से** / लेनिन 10.00
24. **मार्क्सवाद का विकृत रूप तथा साम्राज्यवादी अर्थवाद** / लेनिन 10.00
25. **कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा** / लेनिन 15.00
26. **क्या करें?** / लेनिन 30.00
27. **"वामपन्थी" कम्युनिज़्म - एक बचकाना मर्ज़** लेनिन 15.00
28. **पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन** / लेनिन 15.00
29. **जनता के बीच पार्टी का काम** / लेनिन 30.00
30. **धर्म के बारे में** / लेनिन 20.00
32. **तोल्स्तोय के बारे में** / लेनिन 10.00
33. **जुझारू भौतिकवाद** / प्लेख़ानोव 35.00
34. **लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त** / स्तालिन 25.00
35. **सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास** 90.00
36. **माओ त्से-तुङ की रचनाएँ : प्रतिनिधि चयन** (एक खण्ड में) 75.00
37. **कम्युनिस्ट जीवनशैली और कार्यशैली के बारे में** / माओ त्से-तुङ 40.00
38. **सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना** माओ त्से-तुङ 35.00
39. **दर्शन विषयक पाँच निबन्ध** / माओ त्से-तुङ 25.00
40. **कला-साहित्य विषयक एक भाषण और पाँच दस्तावेज़** /माओ त्से-तुङ 15.00
41. **माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण** 50.00

अन्य मार्क्सवादी साहित्य

1. **पेरिस कम्यून की शिक्षाएँ** (सचित्र) एलेक्ज़ेंडर ट्रैक्टनबर्ग 10.00
2. **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र** (विस्तृत व्याख्यात्मक टिप्पणियों सहित) डी. रियाज़ानोव 100.00
3. **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** / डेविड गेस्ट 25.00
4. **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति : चुने हुए दस्तावेज़ और लेख** (खण्ड 1) 35.00
5. **इतिहास ने जब करवट बदली** विलियम हिण्टन 25.00
6. **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** / वी. अदोरात्स्की 15.00
7. **राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त** (दि शंघाई टेक्स्टबुक ऑफ़ पोलिटिकल इकोनॉमी) (दो खण्डों में) 120.00
8. **अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन** अल्बर्ट रीस विलियम्स 90.00
10. **सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना** / मार्टिन निकोलस 50.00
11. **क्रान्ति का विज्ञान** / लेनी वुल्फ़ 10.00

जीवनी और संस्मरण

1. **कार्ल मार्क्स : संस्मरण और लेख** 35.00
2. **फ़्रेडरिक एंगेल्स : जीवन और शिक्षाएँ** ज़ेल्डा कोट्स 45.00
3. **लेनिन कथा** / मरीया प्रिलेज़ायेवा 70.00
4. **लेनिन विषयक कहानियाँ** 75.00
5. **लेनिन के जीवन के चन्द पन्ने** लीदिया फ़ोतियेवा 50.00
6. **अदम्य बोल्शेविक नताशा** (एक स्त्री मज़दूर संगठनकर्ता की संक्षिप्त जीवनी) एल. काताशेवा 20.00

सम्पूर्ण पुस्तक सूची और पुस्तकें मँगाने के लिए लिखें

जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फ़ोन: 0522-2786782

ईमेल: janchetna@rediffmail.com